क्रांतिकारी परिस्थितियों के बारे में

I

हमारे देश के क्रांतिकारी आन्दोलन में, देश और दुनिया का विश्लेषण करते समय, एक प्रवृत्ति बहुत आम है । देश और दुनिया की परिस्थितियों के वर्णन में यह कहना कि वस्तुगत परिस्थितियां क्रांति के बेहद अनुकूल हैं या होती जा रही हैं तथा कमजोर आत्मगत शक्तियां ही क्रांति के मार्ग में मुख्य बाधा हैं । यह कथन इस प्रवृत्ति का सार है ।

"हालांकि वर्तमान समय में दुनिया की वस्तुगत परिस्थिति विश्व समाजवादी क्रांति को विकसित करने के लिये बेहद अनुकूल है, यह आत्मगत शक्तियों की कमी है जो विश्व सर्वहारा के इस कार्यभार को सफलतापूर्वक निपटाने में अड़ंगा डाल रही है ।" [पेज - 44, Political resolution, adopted by ninth (second) congress,18th march 2001, C.P.I.(M.L.)(peoples war), (अनुवाद हमारा)]

यह मात्र एक बानगी है । वैसे हमारे देश का क्रांतिकारी साहित्य इस बात के विवरणों से भरा हुआ है कि क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियां निरंतर परिपक्व होती जा रही हैं, शोषक वर्गों का संकट तीखा होता जा रहा है, क्रांति के दुश्मन कमजोर होते जा रहे हैं और अगर तब भी क्रांति नहीं हो रही है तो इसका एकमात्र कारण या सबसे प्रमुख कारण आत्मगत शक्तियों की कमजोरी है ।

यहां कई प्रश्न सहज रूप से उठ खड़े होते हैं ? यदि वस्तुगत परिस्थतियां निरंतर बनी हुई हैं तो आत्मगत परिस्थति का निर्माण क्यों नहीं हो रहा है ? सालों-साल से आत्मगत शक्तियां क्यों कमजोर बनी हुई हैं ? आत्मगत शक्तियां कैसे विकसित होती हैं ?

इन्हीं सवालों को अगर दूसरे रूप में प्रस्तुत किया जाये तो, क्रांति कैसे होती है ? क्रांतिकारी परिस्थति क्या होती है ? उसके गुण क्या हैं ? कब माना जायेगा कि वस्तुगत परिस्थिति क्रांति के अनुकूल है ?

हमारे देश के क्रांतिकारी आन्दोलन में जिस तरह से वस्तुगत परिस्थितियों का वर्णन किया जाता है, वह क्या क्रांति के लिये बतायी गयी मार्क्सवादी-लेनिनवादी प्रस्थापनाओं के अनुरूप है ?

हमारे देश के क्रांतिकारी आन्दोलन का साहित्य इस विरोधाभास को बार-बार प्रस्तुत करता है । एक तरफ कहा जाता है कि वस्तुगत परिस्थितियां बेहद अनुकूल हैं और दूसरी तरफ आत्मगत शक्तियां कमजोर हैं । क्या यह लम्बे समय

तक सम्भव रह सकता है ? इतिहास के किसी खास समय में तो यह हो सकता है लेकिन सालों-साल यह कैसे सम्भव हो सकता है ?

सच तो यह है कि क्रांतिकारी आन्दोलन में मौजूद वस्तुगत स्थिति के मूल्यांकन की पद्धति लेनिनवादी पद्धति से मेल नहीं खाती है । आगे के पृष्ठों में क्रांतिकारी शिक्षकों की शिक्षा की रोशनी में हम इन सवालों के जवाब खोजने की कोशिश करेंगे ।

इस बात से आपत्ति नहीं है कि आत्मगत शक्तियां कमजोर हैं, बिखरी हुई है । यह तो दिखाई देता है । सवाल यह है कि क्या वस्तुगत परिस्थितियां क्रांति के लिये परिपक्व हैं । परिस्थितियों के वर्णन से ज्यादा महत्वपूर्ण सवाल पद्धति का है । मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा इस संदर्भ में क्या कहती है । फिर यह सवाल उठता है कि हमारे आन्दोलन में उस पद्धति का पालन हो रहा है कि नहीं ।

यदि सही वैज्ञानिक पद्धति को नहीं अपनाया जायेगा तो वस्तुगत और आत्मगत शक्तियों का गलत विश्लेषण होगा और गलत विश्लेषण से गलत कार्यभार निकलेंगे और फिर ... वे गलत निष्कर्ष व नतीजे क्रांति के मार्ग में आने वाली समस्याओं का सही निरूपण न कर पाने के कारण पहले झूठे आशावाद और बाद में घोर निराशा या पराजयवादी मानसिकता को जन्म देंगे । पहले चरण में जहां अति वामपंथी गलतियां होंगी जो कि देर-सबेर दूसरे चरण में दक्षिणपंथी अवसरवाद को जन्म देंगी ।

क्रांति के सवाल पर एक अन्य पहलू से भी विचार करने की आवश्यकता है । प्रतिक्रांतियां क्यों होती हैं ? उनकी वस्तुगत परिस्थितियां क्या होती हैं ? बीसवीं सदी का इतिहास मात्र सर्वहारा क्रांतियों का इतिहास नहीं रहा है बल्कि उसमें समाजवादी देशों में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना भी हुयी है । यह तथ्य हमारे समक्ष इस सवाल के दूसरे आयाम को भी प्रस्तुत कर देता है ।

II

सैद्धान्तिक प्रस्थापनाएं

मार्क्सवादी शिक्षकों ने अपने लेखन में स्थान-स्थान पर इस सवाल को लिया है कि क्रांति कैसे होती है । क्रांति के लिये आवश्यक शर्तों को गिनाया है ।

कार्ल मार्क्स व फ्रेडरिक एंगेल्स ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'फायरबाख़ । भौतिकवादी तथा भाववादी दृष्टिकोण का विरोध (जर्मन विचारधारा का पहला अध्याय)' में; क्रांति के लिये आवश्यक वस्तुगत तथा आत्मगत शक्तियों की चर्चा की है । मार्क्स व एंगेल्स के अनुसार,

"...जीवन की ये अवस्थाएं, जिन्हें भिन्न-भिन्न पीढ़ियां अस्तित्व में पाती हैं, यह भी तय करती हैं कि समय-समय पर होने वाली क्रांतिकारी उथल-पुथलों में पूरी विद्यमान व्यवस्था को उलटने लायक शक्ति होगी या नहीं । और एक सम्पूर्ण क्रांति के ये भौतिक तत्व विद्यमान नहीं हैं (यानी एक ओर मौजूदा उत्पादक शक्तियां तथा दूसरी ओर एक

ऐसे क्रांतिकारी समूह का गठन, जो समाज की तब तक की पृथक-पृथक अवस्थाओं के ख़िलाफ़ ही नहीं वरन तब तक के "जीवन के उत्पादन के" ही ख़िलाफ़, उस "सम्पूर्ण क्रिया-कलाप"के ख़िलाफ़, जिस पर वह आधारित है, विद्रोह करता है) , तो जैसा कि कम्युनिज्म का इतिहास इसे सिद्ध करता है, व्यवहारिक विकास के लिये इस बात का कतई कोई अर्थ नहीं होता कि इस क्रांति का ***विचार*** *पहले ही सौ बार प्रकट किया जा चुका है ।" (मार्क्स व एंगेल्स, 'फायरबाख़ । भौतिकवादी तथा भाववादी दृष्टिकोण का विरोध' , मार्क्स व एंगेल्स की संकलित रचनाएं, हिन्दी में (तीन खण्डों में), खण्ड -1, भाग-1, पेज-49,पैरा-2, प्र०प्रकाशन-मास्को,जोर मूल में)*

उपरोक्त बातें मार्क्स व एंगेल्स ने फायरबाख़ की इतिहास की गलत समझदारी के जवाब में कही थी । यहां मार्क्स व एंगेल्स का जोर इस बात में है कि क्रांति तब तक नहीं हो सकती है जब तक उसमें विद्रोह करने के लिये आवश्यक **भौतिक तत्व** न मौजूद हों । क्रांति के विकास के लिये यदि ये भौतिक तत्व न हों तो उनके अनुसार इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि आप क्रांति के विचार को कितनी बार दोहराते रहे हैं ।

यद्यपि मार्क्स व एंगेल्स की बातें हमारे आन्दोलन में प्रचलित वस्तुगत-आत्मगत शक्तियों की प्रचलित शब्दावली में नहीं हैं परन्तु सुस्पष्ट हैं ।

इसी कृति में एक अन्य स्थान पर उन्होंने कम्युनिज्म की अपनी धारणा को रखा था । यह धारणा हमारे समय में मौजूद कम्युनिज्म की आदर्श तस्वीर से एकदम भिन्न है । यद्यपि किसी को यह लग सकता है कि यह विषयान्तर है, परन्तु यह क्रांति की योजनाबद्धता, व भविष्य के सम्पूर्ण पूर्व निर्धारण और यहां तक कि जैसा रूस व चीन में घट चुका है, वैसे की नकल से एकदम भिन्न है । मार्क्स व एंगेल्स के शब्दों में,

" [18] कम्युनिज्म हमारे लिये कोई ***अवस्था*** *नहीं है जिसे स्थापित किया जाना है, न वह हमारे लिये* ***आदर्श*** *है जिसके अनुसार यथार्थ को अपने को ढालना होगा । हम* ***वास्तविक*** *आन्दोलन को कम्युनिज्म का नाम देते हैं जो मौजूदा अवस्था को मिटाता है । इस आन्दोलन की अवस्थाऐं उन पूर्वाधारों से उत्पन्न होती हैं जो इस समय अस्तित्व में हैं ।" (पेज-43,पैरा-2, वही, जोर मूल में)*

यहां मार्क्स व एंगेल्स का जोर एक बुनियादी विषय की ओर है । वह विषय है कि हम इतिहास को कैसे देखें । हमारे युग ने जो चुनौतियां हमारे सामने प्रस्तुत की हैं, उन्हें कैसे लें । क्या हम अपने मनोगत आदर्शों व कल्पनाओं को यथार्थ पर थोपें अथवा यथार्थ में मौजूद 'ठोस परिस्थितियों का ठोस मूल्यांकन' कर अपने कार्यभार तय करें । सवाल बुनियादी है । हमारा दृष्टिकोण भाववादी होना चाहिये या भौतिकवादी?

मार्क्स व एंगेल्स इस बात पर जोर देते हुए कह रहे हैं कि उनके लिये कम्युनिज्म कोई अवस्था अथवा आदर्श न होकर एक वास्तविक आन्दोलन है जो कि मौजूदा अवस्था को मिटाता है और यह अवस्था **अस्तित्वमान पूर्वाधार** से पैदा हो रही है । यहां अस्तित्वमान पूर्वाधार महत्वपूर्ण हो जाता है जिसके द्वारा एक वास्तविक आन्दोलन अर्थात क्रांति का जन्म हो सकता है।

क्रांति की मार्क्सवादी प्रस्थापनाएं हमें बताती हैं कि क्रांति तभी संभव होती है जब उत्पादन संबन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधा बन कर खड़े हो जाते हैं । एक समय तक वे उत्पादन सम्बन्ध जो पुराने उत्पादन संबन्धों के भंग होने के बाद अस्तित्व में आये होते हैं, उत्पादक शक्तियों के विकास में सहायक होते हैं । विकास की एक अवस्था ऐसी आती है जब नये कायम हुए उत्पादन संबन्ध पुराने पड़ जाते हैं और उत्पादक शक्तियों को अवरूद्ध करने लगते हैं। ऐसी अवस्था में क्रांति का काल प्रारम्भ हो जाता है । इस बात की व्याख्या बहुत अच्छे ढंग से मार्क्स ने 'राजनीतिक अर्थ शास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास' में की है । यह मार्क्सवाद की मानव समाज के ऐतिहासिक विकास (क्रांति भी जिसका एक हिस्सा है) के संदर्भ में एक शास्त्रीय प्रस्थापना है । मार्क्स के शब्दों में,

*" ...अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य निश्चित सम्बन्धों-उत्पादन के सम्बन्धों - में बंधते हैं, जो अपरिहार्य एवं उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं । उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास कीएक निश्चित मंजिल के अनुरूप होते हैं । इन उत्पादन सम्बन्धों का कुल योग ही समाज का आर्थिक ढांचा है - वह असली आधार है, जिस पर कानून व राजनीति का ऊपरी ढांचा खड़ा हो जाता है और जिसके अनुकूल ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं । भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है । मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती है । बल्कि उल्टे, उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है ।अपने विकास की खास मंजिल पर पहुंच कर समाज की भौतिक उत्पादक शक्तियां तत्कालीन उत्पादन संबन्धों से या - जो उसी चीज की कानूनी अभिव्यक्ति हैं-उस सम्पत्ति सम्बन्धों से टकराती हैं, जिसके अन्तर्गत वे उस समय तक काम करती होती हैं । ये सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास का रूप न रहकर उनके लिये बेड़ियां बन जाते हैं । तब सामाजिक क्रांति का युग शुरू होता है । आर्थिक आधार के बदलने के साथ समस्त वृहदाकार ऊपरी ढांचा भी कमोवेश तेजी से बदल जाता है । ऐसे रूपान्तरणों पर विचार करते हुए एक भेद हमेशा ध्यान में रखना चाहियेः एक ओर तो उत्पादन की परिस्थितियों का भौतिक रूपान्तरण है, जो प्रकृति विज्ञान की अचूकता के साथ निर्धारित किया जाना चाहिये, दूसरी ओर वे कानूनी, राजनीतिक, धार्मिक, सौन्दर्यबोधी या दार्शनिक संक्षेप में विचारधारात्मक रूप हैं, जिनके दायरे में मनुष्य इस टक्कर के प्रति सचेत होते हैं और उनसे निपटते हैं । जैसे किसी व्यक्ति के बारे में हमारी राय इस बात पर निर्भर नहीं होती कि वह अपने बारे में क्या सोचता है, उसी तरह हम ऐसे रूपान्तरण के युग के बारे में स्वयं उस युग की चेतना के आधार पर निर्णय नहीं कर सकते । इसके विपरीत भौतिक जीवन के अन्तर्विरोधों के आधार पर ही, समाज की उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों की मौजूदा टक्कर के आधार पर ही इस चेतना की व्याख्या की जानी चाहिये । **कोई भी समाज व्यवस्था** तब तक खत्म नहीं होती, जब तक उसके अन्दर तमाम उत्पादन शक्तियां जिनके लिये उसमें जगह है, विकसित नहीं हो जाती और नये, उच्चतर उत्पादन सम्बन्धों का आविर्भाव तब तक नहीं होता, जब तक कि उनके अस्तित्व की भौतिक परिस्थितियां पुराने समाज के गर्भ में ही पुष्ट नहीं हो चुकतीं । इसलिये मानव जाति अपने लिये हमेशा केवल वैसे ही कार्यभार निर्धारित करती है, जिन्हें वह संपन्न कर सकती है । कारण यह है कि मामले पर गौर से देखने पर हमेशा हम यही पायेंगे कि स्वयं कार्यभार केवल तभी उपस्थित होता है, जब उसे सम्पन्न करने के लिये जरूरी परिस्थितियां पहले से तैयार होती हैं, या कम से कम तैयार हो रही होती हैं ।(कार्ल मार्क्स, 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की*

समीक्षा का एक प्रयास,' मार्क्स-एंगेल्स की संकलित रचनाएं, तीन खण्डों में, खण्ड-1,भाग-2,पेज-267-268, जोर हमारा)

यहां मार्क्स का एक बात पर विशेष जोर है । वह यह कि कोई भी समाज व्यवस्था कब खत्म होती है तथा उच्चतर सम्बन्धों वाली व्यवस्था का आविर्भाव कब होता है । किसी भी समाज व्यवस्था में जब तक उत्पादक शक्तियों के विकास की जगह मौजूद है तब तक वह अस्तित्वमान है । इतिहास के रंगमंच में उसकी भूमिका तब समाप्त हो जाती है जब नये उत्पादन सम्बन्धों के लिये भौतिक परिस्थितियां तैयार हो जाती हैं ।

मार्क्स के उपरोक्त उद्धरण में कुछ बातें बहुत साफ हैं । पहली, सामाजिक क्रांति तब ही सम्पन्न होती है जबकि तत्कालीन उत्पादन सम्बन्ध भौतिक उत्पादक शक्तियों के लिये बेड़ियां बन जाते हैं। दूसरी, **प्रकृति विज्ञान की अचूकता** की तरह ही उत्पादन की परिस्थितियों के **रूपान्तरण को निर्धारित करना** होता है । तीसरी, कानूनी, धार्मिक, राजनीतिक, दार्शनिक आदि ऐसे विचारधारात्मक क्षेत्र हैं जिनमें होने वाले संघर्षों से ही मनुष्य उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादन संबंधों के बीच चल रही 'टक्कर' के प्रति **सचेत** होते हैं और इसकी रूपान्तरण की **चेतना जन्म लेती है** । रूपान्तरण का कार्यभार मानवजाति के समक्ष आ खड़ा होता है ।

मार्क्स ऐसे दार्शनिक या चिंतक नहीं थे जो सामाजिक उथल-पुथल या सामाजिक परिस्थितियों से अलग होकर चिंतन करते हों । मार्क्स ने अपनी विश्लेषण पद्धति को अपने युग की घटनाओं पर लागू किया और ठोस निष्कर्ष निकाले । मार्क्स व एंगेल्स का दृष्टिकोण यह कदापि नहीं रहा है कि वे सामाजिक परिस्थितियों में आने वाले परिवर्तनों को नोटिस में न लें । अपने गलत आकलन व निष्कर्ष को न बदलें ।

क्रांति के लिये आवश्यक वस्तुगत परिस्थितियों का वर्णन बिल्कुल ठोस ढंग से मार्क्स ने अपनी कृति 'फ्रांस में वर्ग-संघर्ष' में किया है । मार्क्स ने लिखा है-

*" अंततः विश्वव्यापी महत्व की दो आर्थिक **घटनाओं** ने आम असन्तोष को तेज कर दिया तथा विप्लव करने की मनः स्थिति को परिपक्व बना दिया ।*

*`` **1845 तथा 1846 में आलुओं की फसल को कीड़ा लग जाने तथा अनाज की फसलें न होने** के कारण जनता में आम उफान बढ़ गया। 1847 के अभाव ने फ्रांस और साथ ही शेष महाद्वीप में रक्तपातपूर्ण संघर्षों को जन्म दे दिया । वित्तीय अभिजात तंत्र के निर्लज्ज व्यभिचारों के मुकाबले में थी जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जनता की लड़ाई ब्यूजान्स में भूखे बलवाइयों को मौत के घाट उतारा गया; पेरिस में शाही परिवार ने अतितृप्त ठगों को अदालतों के हाथों से छीन लिया ।*

*''दूसरी बड़ी आर्थिक घटना, जो क्रांति की शुरूआत को और समीप ले आयी,इंगलैंड में **आम वाणिज्यिक तथा औद्योगिक संकट** थी। 1845 की पतझड़ में ही रेलों के शेयरों के सटोरियों की बहुत बड़ी संख्या के दिवालिया होने से जिस संकट की उद्घोषणा हो गयी थी और जिसे अनाज शुल्कों के आसन्न उन्मूलन जैसी कई घटनाओं ने 1846 तक टाल दिया था, 1847 की पतझड़ में वह अन्ततः लन्दन के थोक किरानियों के दिवालिया होने के साथ उभरकर सामने आया, उसके*

फौरन बाद भूमि बैंक दिवालिया हो गये तथा इंग्लेंड के औद्योगिक जिलों की फैक्ट्रियां बन्द हो गयी । महाद्वीप पर इस संकट के परिणाम अभी खत्म भी न हुए थे कि फरवरी क्रांति आरम्भ हो ।" (मार्क्स,'फ्रांस में वर्ग-संघर्ष, खण्ड-भाग 1, पेज-258-259, वही, जोर मूल में)

1848 की क्रांति की असफलता के बाद मार्क्स व एंगेल्स यह आशा कर रहे थे कि शीघ्र ही पुनः क्रांति आरम्भ होगी परन्तु जब वस्तुगत कारण क्रांति के लिये उपयुक्त नहीं रहे तो क्रांति नहीं हुई । 1895 में 'फ्रांस में वर्ग संघर्ष' (1848-1850) की भूमिका में एंगेल्स ने लिखा था,

" ... अर्थात यह स्पष्ट हो गया कि 1847 का विश्व व्यापार संकट ही फरवरी और मार्च क्रांतियों का असली जन्मदाता था और यह कि 1848 के मध्य से जो औद्योगिक समृद्धि धीरे-धीरे लौट रही थी और जो 1849 और 1850 में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गयी; वही हाल में जोर पकड़ने वाली यूरोपीय प्रतिक्रियावाद की प्राणदायी शक्ति थी । और यह बात निर्णायक थी। जहां पहले तीन लेखों में (जो << Neue Rheinische Zeitung. politisch-o" konomische Revue>> हैम्बर्ग, 1850 के जनवरी,फ़रवरी और मार्च के अंकों में निकले थे) अभी भी यह आशा व्यक्त की गयी थी कि शीघ्र ही क्रांतिकारी स्फूर्ति का नया उन्मेष होगा, ..." (पेज 232, वही)

इसी भूमिका में एंगेल्स ने लिखा कि 1848 की क्रांति ने इस बात को भी साबित कर दिया था कि पूंजीवादी आधार में अभी सम्भावनाएं मौजूद थीं,

''इतिहास ने हमें और हमारी तरह सोचने वाले हर आदमी को गलत साबित कर दिया है। उसने यह स्पष्ट कर दिया है कि उस समय यूरोपीय महाद्वीप में आर्थिक विकास की जो अवस्था थी, वह पूंजीवादी उत्पादन के निराकरण के लिये बहुत परिपक्व न थी; उसने यह उस आर्थिक क्रांति के द्वारा प्रमाणित किया है , जिसने 1848 से पूरे यूरोपीय महाद्वीप को अपनी लपेट में ले लिया है और जिसके फलस्वरूप बड़े पैमाने के उद्योग ने फ्रांस, आस्ट्रिया, हंगरी, पोलेंड, और हाल में रूस में सचमुच जड़ पकड़ ली है, जबकि उसकी बदौलत जर्मनी निश्चय ही प्रथम कोटि का औद्योगिक देश बन गया है-और यह सब हुआ है पूंजीवादी आधार पर, जिसमें फलतः 1848 में अभी भी विस्तरण की प्रचुर क्षमता थी ।" (पेज-237, वही)

1885 में 'कम्युनिस्ट लीग के इतिहास के विषय में' एंगेल्स ने 1848-1850 के अनुभवों के आधार पर क्रांति की संभावना के बारे में लिखा था । एंगेल्स ने क्रांति की ठोस परिस्थतियों का जहां वर्णन किया वहीं उन्होंने कम्युनिस्ट लीग में पड़ी फूट की चर्चा की । फूट का कारण यह था कि विलिख और शापर जैसे नेता क्रांति के लिये आवश्यक ठोस परिस्थतियों का ध्यान नहीं रख रहे थे और अति वामपंथी गलतियां कर रहे थे । विलिख और शापर 1850 में कम्युनिस्ट लीग में फूट पड़ने के वक्त संकीर्णतावादी-दुस्साहसिकतावादी दल के नेता थे । हम एंगेल्स को इस संदर्भ में उद्धृत करेंगे,

''किन्तु यह संगठन किस उद्देश्य की सिद्धि करेगा यह बहुत बड़ी मात्रा में इस बात पर निर्भर था कि क्रांति के एक नये उभार की संभावनाएं साकार होंगी या नहीं । और 1850 के दौरान इस बात के इमकान बराबर कम होते गये, दरअसल बिल्कुल रह ही नहीं गये । 1847 का औद्योगिक संकट, जिसने 1848 की क्रांति का

मार्ग प्रशस्त किया था, दूर हो चुका था; औद्योगिक समृद्धि का एक नया, अभूतपूर्व काल आरम्भ हो गया था । हर आदमी ने, जिसके आखें थी और जिसने उन्हें मूंद नहीं लिया था, जरूर यह साफ-साफ महसूस किया होगा कि 1848 का क्रांतिकारी तूफान धीरे-धीरे ठंडा पड़ रहा था।

"इस आम समृद्धि के होते हुए, जिसमें पूंजीवादी समाज की उत्पादक शक्तियां पूंजीवादी सम्बन्धों के अन्दर सम्भव अधिकतम प्रचुरता के साथ विकास कर रही हैं, ***सच्ची क्रांति की कोई बात ही नहीं की जा सकती*** *। ऐसी क्रांति उन कालावधियों में ही सम्भव है जबकि ये दोनों तत्व, अर्थात आधुनिक उत्पादक शक्तियां और उत्पादन के पूंजीवादी रूप एक दूसरे से टकराते हों ।..*

" ... ऐसे समय वस्तु स्थिति का हमारा उपरोक्त भावुकताहीन मूल्यांकन बहुतों को कुफ्र ज्ञात हुआ । यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि विलिख जैसा आदमी इस चक्कर में पड़ गया, कि शापर ने भी अपनी पुरानी क्रांतिकारी भावना में बहकर अपने को इस सब्जबाग में फंस जाने दिया और लन्दन के मजदूरों का अधिकतर भाग, जो स्वयं बड़ी हद तक शरणार्थियों का था, उनके पीछे चलकर क्रांति के तथाकथित पूंजीवादी-जनवादी निर्माताओं के खेमे में चला गया । संक्षेप में हमारी संयतता इन लोगों के मन को न भायी । उनका ख्याल था कि क्रांति की रचना करने के खेल में हम लोगों को शामिल होना चाहिये था । हमने ऐसा करने से अत्यंत दृढ़तापूर्वक इंकार कर दिया ।"

(फ्रेडरिक एंगेल्स, कम्युनिस्ट लीग के इतिहास के विषय में', पेज, 234-235,खण्ड-3, भाग,1, वही, जोर मूल में)

मार्क्स व एंगेल्स कोई ऐसे क्रांतिकारी नहीं थे जो कि भावुकतावादी हो गये हों । मार्क्स व एंगेल्स का उपरोक्त विश्लेषण यह भी साबित करता है कि वे अपने आकलनों के संदर्भ में वैज्ञानिक नजरिया रखते थे और अपनी गलतियों का वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण करते थे ।

मार्क्स व एंगेल्स की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति का अनुसरण करने पर ही हम इस बात को समझ पाते हैं कि कैसे इतिहास में एक पुरानी समाज व्यवस्था के स्थान पर दूसरी उच्चतर समाज व्यवस्था अस्तित्व में आती है । मार्क्स की प्रकृति विज्ञान की अचूकता वाली बात से विचलन का अर्थ या तो यथास्थितिवादी, प्रतिक्रियावादी बनना होगा या फिर ब्लांकीपंथी हो जाना होगा ।

मार्क्स के समकालीन लुई ओग्यूस्त ब्लांकी एक ऐसे ही व्यक्ति थे जो समझते थे कि कुछ थोड़े से लोगों की वीरतापूर्वक कार्यवाही के जरिये विद्रोह को अंजाम देते हुए कम्युनिज्म स्थापित किया जा सकता है । ब्लांकी न तो वर्ग-संघर्ष को, न जन-साधारण को और न ही विद्रोह के लिये आवश्यक परिस्थिति को महत्व देते थे । ब्लांकी के अनुसार एक गुप्त षड्यंत्रकारी संगठन कभी भी विद्रोह को अंजाम दे सकता है ।

इसी तरह से बीसवीं सदी के क्रांतिकारी चे ग्वेरा भी सोचते थे । ब्लांकी और चे ग्वेरा की धारणायें कितनी गलत थीं, उन्हें इतिहास ने ही साबित कर दिया है ।

एंगेल्स ने ब्लांकी के बारे मे लिखा है,

" ... ब्लांकी मूलतया राजनीतिक क्रांतिकारी हैं, वे समाजवादी तो केवल भावना के कारण हैं क्योंकि जनता के दुःख दर्द के प्रति उनकी सहानुभूति है ।परन्तु उनके पास न तो कोई समाजवादी सिद्धान्त है और न सामाजिक सुधारों के लिये कोई व्यवहारिक प्रस्ताव । अपनी राजनीतिक गतिविधियों के मामले में वह मूलतया "कर्मशील व्यक्ति" थे जो यह विश्वास करते थे कि यदि एक छोटी सी, सुसंगठित अल्पसंख्या ठीक मौके पर क्रांतिकारी विप्लव को मूर्त रूप देने का यत्न करे तो चन्द आरम्भिक सफलताएं हासिल करके जनसमुदाय को अपने साथ कर सकती है और इस तरह विजयी क्रांति सम्पन्न कर सकती है । ... चूंकि ब्लांकी हर क्रांति को एक छोटी-सी क्रांतिकारी अल्पसंख्या द्वारा राज्य पर्युत्क्षेपण मानते थे, इसलिये इसका स्वभावतया यह अर्थ निकलता है कि इसकी सफलता के बाद अनिवार्यतः अधिनायकत्व की स्थापना होगी - परन्तु ध्यान रहे, पूरे क्रांतिकारी वर्ग का, सर्वहारा का अधिनायकत्व नहीं वरन उन चन्द लोगों का अधिनायकत्व जिन्होंने विद्रोह सम्पन्न किया तथा जो स्वयं आरम्भ से ही एक या कई व्यक्तियों के अधिनायकत्व के अन्तर्गत संगठित होते हैं ।" (फ्रेडरिक एंगेल्स,जून-1874 में लिखित,'कम्यून के ब्लांकीपंथी उत्प्रवासियों का कार्यक्रम', मार्क्स-एंगेल्स की संकलित रचनाएं, तीन खण्डों में, खण्ड-2,भाग-2,पेज-184-85,प्र०प्र०मास्को)

ब्लांकीपंथी हमारे देश के क्रांतिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में घोषित तौर पर नहीं रहे हैं । लेकिन देश के क्रांतिकारी आन्दोलन को विशेषकर अगर सत्तर के दशक में देखें तो हम पायेंगे कि अति वामपंथी गलतियां ब्लांकीवाद से मिलती-जुलती हैं । यहां प्रायः जिस बात को भुला दिया जाता है, वह यह है कि क्रांतियां एक निश्चित व अनिवार्य ऐतिहासिक विकासक्रम का नतीजा होती हैं । क्रांति किसी "अल्पसंख्या" द्वारा बनायी गयी ठोस "योजना" के अनुसार संपन्न नहीं हो सकती है तथा जब मर्जी आये तब उसकी "शीघ्र शुरूआत" नहीं हो सकती है ।

क्रांति के सवाल पर मार्क्सवाद और ब्लांकीवाद के फर्क को बहुत स्पष्ट शब्दों में लेनिन ने अपने एक पत्र में 1917 में रखा है । लेनिन के ही शब्दों में,

*"सफल होने के लिये विद्रोह को षड्यंत्र का नहीं, एक पार्टी का नहीं, अपितु आगे बढे हुए वर्ग का सहारा लेना चाहिये । यह है पहली शर्त । विद्रोह को **जनता के क्रांतिकारी उभार का** सहारा लेना चाहिये । यह है दूसरी शर्त । विद्रोह को संवर्द्धित होती जा रही क्रांति के इतिहास में उस **मोड़** का सहारा लेना चाहिये, जब जनता की आगे बढ़ी हुई कतारों की क्रियाशीलता अधिकतम होती है, जब दुश्मन की कतारों में और **क्रांति के कमजोर और अधकचरे,संकल्पहीन मित्रों की कतारों में ढुलमुलपन सबसे** ज्यादा सशक्त होता है । यह है तीसरी शर्त । विद्रोह का प्रश्न प्रस्तुत करने में ये तीनों शर्तें **मार्क्सवाद को ब्लांकीवाद** से विभेदित करती हैं ।"*

[लेनिन, 'मार्क्सवाद तथा विद्रोह', रूसी सामाजिक-जनवादी मजदूर पार्टी (बो०) की केन्द्रीय समिति को पत्र, पेज : 12-13, संकलित रचनाएं चार खण्डों में, खण्ड-3, प्र० प्र० मास्को, जोर मूल में]

लेनिन ने इस सवाल पर मार्क्स की 'प्रकृति विज्ञान वाली अचूकता' का परिचय दिया है । लेनिन की गिनायी गयी इन तीन शर्तों पर गौर करने के साथ ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि क्रांतियां "निर्मित" नहीं की जा सकती हैं बल्कि वे

इतिहास के एक विशेष "मोड़" के अवसर पर ही हो सकती हैं । लेनिन द्वारा गिनायी गयी तीनों शर्तें - आगे बढ़े हुए वर्ग की जरूरत, जनता का क्रांतिकारी उभार और तीसरी इतिहास की वह खास अवस्था जब जनता की क्रियाशीलता अधिकतम तथा दुश्मन और क्रांति के ढुलमुल सहयोगी का ढुलमुलपन अधिकतम होता है-की कसौटी में अक्टूबर 1917 की क्रांति को कसने पर हम पाते हैं कि यही वह **'प्रकृति विज्ञान वाली अचूकता'** थी जिसने इस क्रांति को संभव बनाया ।

जहां तक क्रांतियों के निर्मित किये जाने का सवाल है, यह बात काउत्सकी से जुड़ी हुयी है । क्रांति के इस भगोड़े ने लेनिन पर रूस में क्रांति निर्मित करने का आरोप लगाया था । बाद में काउत्सकी ने **सन् 1917** की समाजवादी क्रांति का विरोध किया था ।

लेनिन ने 'दूसरे इंटरनेशनल का पतन' नामक अपनी पुस्तिका में क्रांतियों के "निर्मित" किये जाने का उत्तर दिया था । यह पुस्तिका लेनिन ने सन् 1915 में लिखी यानी कि अक्टूबर क्रांति के दो वर्ष पूर्व । लेनिन ने इस पुस्तिका में लिखा है,

*" ... काउत्सकी के वामपंथी विपक्षी अच्छी तरह जानते हैं कि क्रांति "निर्मित" नहीं की जा सकती, कि क्रांतियां वस्तुगत रूप से (अर्थात पार्टियों तथा वर्गों की इच्छाओं पर निर्भर न हो कर) परिपक्व संकटों तथा इतिहास के उल-टफेरों से **विकसित होती हैं**, कि संगठन के बिना जन-साधारण में इच्छा शक्ति का अभाव होता है, कि केन्द्रीयकृत राज्यों के सशक्त, आतंकवादी, फौजी संगठन के विरूद्ध संघर्ष कठिन तथा लम्बा काम होता है ।" [लेनिन, 'दूसरे इंटरनेशनल का पतन', लेनिन की संकलित रचनाएं दस खण्डों में (हिन्दी संस्करण), पेज 118, पैरा-2, खण्ड-5 प्र० प्र० मास्को, जोर मूल में]*

इसी पुस्तिका में लेनिन ने विस्तार से क्रांति के लिये आवश्यक वस्तुगत और आत्मगत परिस्थितियों का वर्णन किया है । लेनिन के शब्दों में,

*"मार्क्सवादी के लिये यह निर्विवाद है कि क्रांतिकारी परिस्थिति के बिना क्रांति असंभव है, इसके अलावा, हर क्रांतिकारी परिस्थिति भी क्रांति का कारण नहीं बनती । मोटे तौर से क्रांतिकारी परिस्थिति के लक्षण क्या हैं ? अगर हम नीचे के तीन मुख्य लक्षण गिनायें, तो निश्चय ही कोई गलती नहीं करेंगे : (1) जब शासक वर्गों के लिये बिना किसी तबदीली के अपना शासन कायम रखना असंभव हो जाये, जब एक न एक रूप में "उच्च वर्गों" के भीतर संकट हो, शासक वर्गों की नीति में संकट हो, जिससे एक ऐसी दरार पैदा हो जाये, जिसमें से उत्पीड़ित वर्गों का असंतोष और रोष फूट पड़े । क्रांति के होने के लिये एक आम तौर पर ''निचले वर्गों का'' पुराने ढंग से रहना ''न चाहना" नाकाफी होता है,उसके लिये यह भी जरूरी होता है कि "उच्च वर्ग" पुराने ढंग से रहने में "असमर्थ हो जायें", (2) जब उत्पीड़ित वर्गों का दुःख और गरीबी सामान्य से अधिक तीक्ष्ण हो जाये,(3)जब उपरोक्त कारणों के फलस्वरूप उन जनसमुदायों की सरगर्मी में काफी वृद्धि हो जाये, जो "शांतिमय" काल में बिना शिकवा-शिकायत के अपने को लुटने देते हैं लेकिन तूफानी वक्त में संकट की तमाम परिस्थितियों द्वारा खुद **"उच्च वर्गा" द्वारा भी** स्वाधीन ऐतिहासिक कार्यवाही में खींचे जाते हैं।*

*"इन वस्तुपरक परिवर्तनों के बगैर, जो न केवल अलग-अलग दलों और पार्टियों की, बल्कि अलग-अलग वर्गों की भी इच्छा पर निर्भर नहीं होते, क्रांति सामान्यतः असम्भव होती है । इन सारे वस्तुपरक परिवर्तनों की समग्रता को क्रांतिकारी परिस्थिति कहते हैं । ऐसी परिस्थिति 1905 में रूस में और सभी क्रांतिकारी दौरों में पश्चिम में मौजूद थी वह पिछली सदी के सातवें दशक में जर्मनी में भी मौजूद थी और 1859-1861 तथा 1879-1880 में रूस में, हालांकि उन सूरतों में कोई क्रांति नहीं हुई । ऐसा क्यों हुआ? ऐसा इसलिये हुआ कि हर क्रांतिकारी परिस्थिति भी क्रांति को जन्म नहीं देती है । क्रांति केवल ऐसी परिस्थिति से पैदा होती है, जिसमें उपरोक्त वस्तुपरक परिवर्तनों के साथ एक आत्मपरक परिवर्तन भी, याने क्रांतिकारी अवामी कार्रवाई करने की क्रांतिकारी **वर्ग** की क्षमता भी जुड़ी हो, जो उस पुरानी सरकार को, जिसे ढहा न दिया जाये, तो उसका "पतन" कभी भी,संकट के दौर में भी, नहीं होगा, तोड़ देने (अथवा उसकी चूलें ढीली करने) के लिए पर्याप्त रूप से **जोरदार** हो ।"(पेज 83-84 वही, जोर मूल में)*

यहां दो बातें विशेष रूप से गौर करने की हैं । पहला, क्रांतिकारी परिस्थिति के बिना क्रांति आम तौर पर असंभव है । लेनिन की बातों से सुस्पष्ट है कि इतिहास में क्रांतिकारी परिस्थिति गिनाये गये ठोस वस्तुपरक परिवर्तनों की **समग्रता** पर निर्भर करती है । लेनिन के दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट है कि रूस के इतिहास में वह समय 1859-1861; 1879-1880 व 1905 में था । लेनिन की पुस्तिका लिखे जाने के बाद यह क्रांतिकारी परिस्थिति 1917 में पुनः पैदा हुई । लेनिन की विश्लेषण पद्धति से तुलना करने पर यह एहसास गहराने लगता है कि हमारे देश के क्रांतिकारी आन्दोलन में वस्तुगत परिस्थितियों के बर्णन में कितना अधिक सतहीपन है । क्रांतिकारी आन्दोलन के विभिन्न गुट अपने दस्तावेजों में यह बात साल-दर-साल दुहराते रहते हैं कि क्रांतिकारी परिस्थिति बेहद अनुकूल है, परिपक्व है । लेनिन के गिनाये गये तीन महत्वपूर्ण वस्तुपरक परिवर्तन की कसौटी में कस कर किये गये विश्लेषण का तो सख्त अभाव है । इस सवाल पर आगे और चर्चा की जायेगी ।

दूसरी बात । लेनिन का साफ कहना है कि हर क्रांतिकारी परिस्थिति भी क्रांति को जन्म नहीं देती है । क्रांति के सफल होने के लिये वस्तुपरक परिवर्तनों की नितान्त आवश्यकता होती है । आत्मपरक परिवर्तन में जिस बात पर लेनिन का जोर है, वह है, क्रांतिकारी वर्ग की क्रांतिकारी अवामी कार्रवाई करने की क्षमता । आत्मपरक परिवर्तन के लिये जो चीज आवश्यक है वह है क्रांतिकारी वर्ग और फिर उसकी क्रांतिकारी अवामी कार्रवाई करने की क्षमता । कार्रवाई करने में उन वस्तुपरक परिवर्तनों की भूमिका महत्वपूर्ण बन जाती है जिसमें उत्पीड़ित वर्गों का असंतोष और रोष फूट पड़ता है । दुःख और गरीबी उत्पीड़ित वर्गों की बरदाश्त सीमा से बाहर हो चुके होते हैं तथा जनसमुदाय की सरगर्मी शांतिमय काल से क्रांतिकाल में प्रवेश कर जाती है। यहीं हम कुछ बातों को और स्पष्ट करना चाहेंगे । क्रांति के लिये आवश्यक आत्मगत शक्तियों का जन्म और विकास कैसे होता है ? मार्क्सवादी अवधारणाओं से साफ है कि वस्तुगत परिस्थितियां ही आत्मगत शक्तियों को जन्म देती हैं । आत्मगत शक्तियों का क्रमिक विकास और प्रभाव अभिन्न रूप से वस्तुगत परिस्थितियों से जुड़ा हुआ है । एक बार अस्तित्व में आने के बाद आत्मगत शक्तियां वस्तुगत परिस्थतियों पर भी प्रभाव डालती हैं और इतिहास के खास मौकों पर तो उनका हस्तक्षेप वस्तुगत परिस्थितियों को बदलने में निर्णायक भूमिका अदा करता है । इस तरह से आत्मगत और वस्तुगत कारक आपस में किसी रेखीय सम्बन्ध में न बंधे होकर द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों में बंधे होते हैं । जिसमें

सामान्य तौर पर वस्तुगत पक्ष प्रधान होता है लेकिन इतिहास के विशेष क्षणों या क्रांतिकारी परिस्थिति की अवस्था में, आत्मगत कारक भी प्रधान भूमिका ग्रहण करते हैं । उनकी निर्णायक भूमिका से ही तय हो रहा होता है कि वस्तुगत परिवर्तन हो सकेंगे कि नहीं ।

इस विषय में माओ ने अपने प्रसिद्ध लेख 'अन्तर्विरोध के बारे में' में इस द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को बहुत ही अच्छे ढंग से उद्‌घाटित किया है । माओ के अनुसार,

"कुछ लोगों का विचार है कि कुछ खास अन्तर्विरोध इस तरह के नहीं होते। मिसाल के लिए, उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के अन्तरर्विरोध में उत्पादक शक्तियां प्रधान पहलू है; आर्थिक आधार और ऊपरी ढांचे के बीच के अन्तर्विरोध में आर्थिक आधार प्रधान पहलू है; और इनकी अपनी स्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं होता । यह धारणा एक भौतिकवादी धारणा है, द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नहीं । यह सच है कि उत्पादक शक्तियां, व्यवहार और आर्थिक आधार आम तौर पर निर्णायक भूमिका अदा करते हैं; जो कोई इस बात से इंकार करता है वह भौतिकवादी नहीं है । लेकिन इस बात को भी स्वीकार करना होगा कि एक विशेष परिस्थिति में उत्पादन सम्बन्ध, सिद्धान्त और ऊपरी ढांचे जैसे पहलू भी प्रधान और निर्णयात्मक भूमिका अदा करते हैं । जब उत्पादन सम्बन्धों को बदले बिना उत्पादक शक्तियों का विकास नहीं हो सकता, तब उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन ही प्रधान और निर्णयात्मक भूमिका अदा करता है । जैसा कि लेनिन ने कहा था,"बिना क्रांतिकारी सिद्धान्त के कोई क्रांतिकारी आन्दोलन नहीं हो सकता": ऐसी स्थिति में क्रांतिकारी सिद्धान्त की रचना और उसके प्रतिपादन की ही प्रधान और निर्णयात्मक भूमिका होती है ।...जब ऊपरी ढांचा (राजनीति, संस्कृति, आदि) आर्थिक आधार के विकास को अवरूद्ध करता है, तब राजनीतिक और सांस्कृतिक सुधार प्रधान और निर्णायात्मक तत्व बन जाते हैं । जब हम ऐसा कहते हैं, तो क्या हम भौतिकवाद से दूर भाग रहे हैं ? नहीं । कारण कि जहां हम यह मानते हैं कि इतिहास के आम विकास के दौरान भौतिक स्थिति ही मानसिक स्थिति का निर्णय करती है तथा सामाजिक अस्तित्व ही सामाजिक चेतना का निर्णय करता है, वहां हम यह भी मानते हैं और हमें अवश्य मान लेना चाहिये कि मानसिक स्थिति की भौतिक स्थिति पर, सामाजिक चेतना की सामाजिक अस्तित्व पर तथा ऊपरी ढांचे की आर्थिक आधार पर भी प्रतिक्रिया होती है । यह मान्यता भौतिकवाद के खिलाफ नहीं है, इसके विपरीत यह यांत्रिक भौतिकवाद से बच जाती है और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर दृढ़ता से कायम रहती है ।"(माओ त्से तुंड़,'अंतर्विरोध के बारे में', पेज- 601-602-603, ग्रंथ-1; माओ त्से तुंड़ की संकलित रचनाएं चार खण्डों में, हिन्दी संस्करण,विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पेकिंग)

माओ ने यहां पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और यांत्रिक भौतिकवाद के फर्क को रेखांकित किया है । मार्क्सवाद का यह विशिष्ट तत्व ही उसे सभी किस्म के भौतिकवाद अलग कर उसे वास्तविक विज्ञान का दर्जा प्रदान करता है ।

यहां माओ आम भौतिकवादी धारणा कि इतिहास के आम विकास के दौरान भौतिक स्थिति ही मानसिक स्थिति का निर्णय करती है; के साथ इस बात पर जोर दे रहे हैं कि मानसिक स्थिति भी भौतिक स्थिति पर प्रतिक्रिया करती है तथा खास मौकों पर वह निर्णायक हो जाती है। लेकिन ऐसा नहीं होता कि इतिहास के आम विकास में, मानसिक स्थिति भौतिक स्थिति का निर्धारण करती हो । यह स्थिति अपनाने का अर्थ होगा भाववादी हो जाना । साथ ही मानसिक स्थिति को यह

मानना कि वह भौतिक स्थिति पर प्रभाव नहीं छोड़ती है मानने का अर्थ होगा, जैसा कि माओ ने कहा यांत्रिक भौतिकवादी हो जाना होगा । यांत्रिक भौतिकवाद तथा भाववाद दोनों ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दुश्मन हैं । सर्वहारा वर्ग का दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है यांत्रिक भौतिकवाद या भाववाद नहीं ।

जहां तक हमारे देश के क्रांतिकारी आन्दोलन में क्रांति की वस्तुगत व आत्मगत परिस्थितियों के निर्धारण व वर्णन में अपनायी जाने वाली पद्धति का सवाल है, वह यांत्रिक भौतिकवाद और भाववाद के बीच झूलती रहती है । और यह समस्या और गहराती है जब वस्तुगत परिस्थितियों का निर्धारण करते समय प्रकृति विज्ञान वाली अचूकता के स्थान पर क्रांतिकारी रोमांटिक भाववाद का परिचय दिया जाता है । वस्तुगत पस्थितियों का अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन किया जाता है । सामान्य परिस्थितियों को क्रांतिकारी परिस्थिति में तथा सामान्य संकट को क्रांतिकारी संकट में अपनी मनोगत धारणाओं के द्वारा तबदील कर दिया जाता है । वहां वह चीज खोज ली जाती है जो वहां नहीं है ।

माओ के इस उद्धरण में और गौर करने की जरूरत है । अक्सर ही दो तरह के अन्तर्विरोधों को आपस में गड्ड-मड्ड कर दिया जाता है । वह है उत्पादक शक्तियों व उत्पादन सम्बन्धों नामक अन्तर्विरोध को आर्थिक आधार व ऊपरी ढांचे नामक अन्तर्विरोध से उलझा देना । यह उलझाव कई किस्म के भ्रमों का कारण बन जाता है । उत्पादक शक्तियों व उत्पादन सम्बन्धों से आर्थिक आधार का निर्माण होता है और इस आर्थिक आधार का ऊपरी ढांचे से अन्तर्विरोध है । यहां फिर वही बात गौर करने की है ये आपस में द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों में बंधे होते हैं ।

इतिहास के खास मौकों पर ऊपरी ढांचे की वह महत्वपूर्ण या कहा जाये तो निर्णायक भूमिका होती है कि जिसके फलस्वरूप आर्थिक आधार में क्रांतिकारी बदलाव आता है ।

इतिहास के ऐसे अवसर के समय में ऊपरी ढांचे के तमाम हिस्सों यानी राजनीति, विचारधारा, संस्कृति के क्षेत्र में परिवर्तन व क्रांतिकारी वर्ग की तैयारी का महत्व बढ़ जाता है । क्रांतिकारी वर्ग यानी हम अपने युग के संदर्भ में कहें तो सर्वहारा वर्ग की विचारधारा, पार्टी और सर्वहारा वर्ग पर क्रांतिकारी विचारधारा का प्रभाव, तैयारी तथा उसकी इच्छा आदि से वह भौतिक शक्ति जन्म लेती है जो इतिहास के खास मौकों पर निर्णायक हस्तक्षेप कर आर्थिक आधार को बदल डालती है ।

क्रांतिकारी वर्ग, उसकी विचारधारा व उसकी पार्टी भौतिक परिस्थितियों की पैदाइश है। जैसे मार्क्सवादी विचारधारा पूंजीवादी समाज में ही पैदा हो सकती थी । यह जानी-पहचानी बात है कि मार्क्सवाद के जन्म में फ्रांसीसी समाजवाद, इंगलेंड के राजनीतिक अर्थशास्त्र व जर्मनी के दर्शन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी । मार्क्सवाद के जन्म के लिये आवश्यक परिस्थितियां पहले निर्मित हो चुकी थी ।

ऐसे ही एक अन्य उदाहरण के रूप में हम बोल्शेविक पार्टी को ले सकते हैं । बोल्शेविक पार्टी सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी उभार तथा सही मार्क्सवाादी विचारधारा का परिणाम थी । बोल्शेविक पार्टी सर्वहारा वर्ग के बीच में क्रांतिकारी विचारधारा के निरंतर प्रचार, घनिष्ठ सम्बन्ध तथा क्रांतिकारी गतिविधियों से ही निर्मित और पुष्ट होती रही ।

यहां अब हम एक अन्य विषय की और मुड़ते हैं । वह है क्रांति में आम जनता की भूमिका ।

क्रांति, बिना आम जनता की सक्रिय और ठोस रूप में कहा जाय तो क्रांतिकारी भागीदारी के संभव नहीं है । हमारे देश के क्रांतिकारी आन्दोलन के साहित्य में जब भी इस सवाल पर चर्चा होती है तो उससे यह तो जाहिर होता है कि जनता के कष्ट और दु:खों में वृद्धि हुई है, तदनुरूप उसके संघर्षों का जन्म और विकास भी होता है लेकिन इस वर्णन से यह कदापि परिलक्षित नहीं होता है कि जनता की सक्रियता और संघर्षशीलता में क्रांतिकारी उभार आ गया है । यहां हम उन वर्णनों को बिना किसी हिचक के छोड़ देंगे जिनमें क्रांतिकारी उभार की कल्पना कर ली गयी है ।जनता के संघर्षों को बढ़ा-चढ़ा कर देखा गया है तथा अपनी मनोगत इच्छाओं या अल्प संख्या की क्रांतिकारिता को जनता के ऊपर थोप दिया गया हो । बाज दफे एक अल्प संख्या की कुछ वीरतापूर्ण कार्यवाहियों को जनता की क्रांतिकारी कार्यवाही के रूप में प्रचारित किया जाता है। निस्संदेह इस तरह की कार्यवाहियों व घटनाओं को जनता की क्रांतिकारी गतिविधियां या उसकी सक्रियता में क्रांतिकारी उभार नहीं कहा जा सकता है ।

''क्रांति लाखों-करोड़ों जनसमुदाय का कार्य है'' । एक मार्क्सवादी प्रस्थापना है जिसे बहुत सुसंगत ढंग से माओ ने स्थापित किया है । पेरिस कम्यून के ऐतिहासिक अनुभव को सांस्कृतिक क्रांति के दौरान इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है,

"पेरिस कम्यून के ऐतिहासिक अनुभव हमें बताते हैं कि सर्वहारा क्रांति और सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय प्राप्ति के लिये यह जरूरी है कि लाखों-करोड़ों जनसमुदाय की क्रांतिकारी सक्रियता पर भरोसा रखा जाय और जन-समुदाय की इतिहास का निर्माण करने की महान शक्ति को पूर्ण रूप से उजागर किया जाय । लेनिन ने कहा: ***''लाखों-करोड़ों जागरूक जन-समुदाय की क्रांतिकारी कार्यवाहियों के बिना जन समुदाय की उमड़ती वीरता के बिना और कम्यून-काल के पेरिस के मजदूरों की चर्चा करते समय मार्क्स के कहे शब्दों में 'धरती को हिला देने वाले' दृढ़ संकल्प व क्षमता के बिना तानाशाही व्यवस्था का खात्मा करना असंभव है।"*** *['सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय अमर रहे-पेरिस कम्यून की शत वार्षिक जयन्ती की स्मृति में', राजसत्ता और क्रांति (महान सर्वहरा सांस्कृतिक क्रांति के कुछ दस्तावेज) पेज-69, पैरा - 3, अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन, मुजफ्फरनगर (उ०प्र०),जोर मूल में]*

क्रांति में जन-समुदाय की भूमिका को लेनिन ने अपने लेखन में कई स्थानों पर स्थापित किया है । लेनिन ने 1917 में फरवरी क्रांति के बाद, सितम्बर 1917 में क्रांति के सबक निकालते हुए लिखा था,

> ***''प्रत्येक क्रांति का मतलब होता है विशाल संख्या में जनगण के जीवन में आकस्मिक मोड़। यदि ऐसे मोड़ के लिये समय परिपक्व न हो, तो कोई भी वास्तविक क्रांति नहीं हो सकती।*** *और जिस तरह किसी भी व्यक्ति के जीवन में कोई भी मोड़, उसे बहुत कुछ सिखाता है, उसे बहुत से अनुभव तथा अनुभूतियां झेलने के लिये विवश करता है,उसी तरह क्रांति पूरी जनता को अत्यल्प समय में अत्यन्त दिलचस्प और कीमती सबक सिखाती है ।''क्रांति के दौरान लाखों, दसियों लाख लोग एक हफ्ते में उससे ज्यादा सीखते हैं, जितना वे एक साल के साधारण, निद्रापूर्ण जीवन में सीखते हैं । इसलिये कि पूरी जनता के जीवन मे आकस्मिक मोड़ के समय विशेष रूप से स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न वर्ग किन उद्देश्यों का अनुसरण कर रहे हैं, उनके पास कितनी शक्ति है,*

वे किन साधनों का उपयोग करते हैं ।"(लेनिन, क्रांति के सबक, पेज - 463, पैरा 1-2, खण्ड- 6,हिन्दी में संकलित रचनाएं दस खण्डों में, प्र०प्र० मास्को, 1983 संस्करण, जोर हमारा)

यहां दो बातें गौर करने वाली हैं । पहली, जनता के विशाल हिस्सों के जीवन में आकस्मिक मोड़ । दूसरी, यदि आकस्मिक मोड़ के लिये परिस्थितियां परिपक्व न हों तो वास्तविक क्रांति नहीं हो सकती ।

घटनाओं का तीव्र प्रवाह क्रांतिकाल के समय आम बात होती है । जन-समुदाय इन घटना प्रवाहों का एक स्वाभाविक वाहक होता है । जन-समुदाय की सक्रियता इन काल-खण्डों में अत्यन्त बढ़ जाती है । क्रांतिकारी अवधियां शान्तिपूर्ण अवधियों से एकदम भिन्न होती हैं ।

अब यहां एक सवाल उठता है कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को जब तक "ऐतिहासिक मोड़" या "आकस्मिक मोड़" न आ रहा हो तब तक क्या करना चाहिये । इस सवाल का जवाब बेहतर ढंग से मार्क्सवादी शिक्षक ही दे सकते हैं । लेनिन ने मई, 1901 में लिखा था,

*''अंत में चन्द शब्द संभव गलतफहमी से बचने के लिए । हमने लगातार व्यवस्थित, नियोजित तैयारी की बात की है, फिर भी हमारा मतलब किसी प्रकार यह नहीं रहा है कि तानाशाही को केवल नियमित घेरेबन्दी अथवा संगठित हमले से ही उलटा जा सकता है । ऐसा विचार बेहूदा और जड़सूत्री होगा । इसके विपरीत यह बिलकुल सम्भव और ऐतिहासिक दृष्टि से कहीं अधिक संभव है कि तानाशाही उन स्वतः स्फूर्त विस्फोटों अथवा अप्रत्याशित राजनीतिक उलझावों में से किसी एक के दबाव से ध्वस्त हो जाये, जिनका खतरा उसे निरन्तर और हर तरफ से रहता है । **लेकिन दुस्साहसिक जुए बाजियों से बचने की चाह** रखने वाली कोई भी राजनीतिक पार्टी ऐसे **विस्फोटों और ऐसे उलझावों की प्रत्याशा** को अपनी **सरगर्मियों** का **आधार** नहीं बना सकती । हमें **लाजिमी तौर** से **अपनी राह चलना चाहिये, अपने नियमित काम को जमकर करते रहना चाहिये** और **अप्रत्याशित घटनाओं पर हम जितना ही कम भरोसा करेंगे,** उतना ही कम इसका खतरा होगा कि हम किसी अप्रत्याशित "ऐतिहासिक मोड़" की गिरफ्त में आ जायें ।'' (लेनिन 'कहां से शुरू करें ?' पेज 483-484 , खण्ड-1,लेनिन की संकलित रचनाएं दस खण्डों में, हिन्दी में, प्र०प्र० मास्को; जोर हमारा)*

जैसा कि लेनिन ने ही हमें सिखाया है कि हमें स्वतः स्फूर्तता का पुजारी नहीं होना चाहिये । जनता के पीछे-पीछे चलने के बजाय हमें जनता का नेतृत्व करना चाहिये ।"क्या करें?" नामक पुस्तक में लेनिन ने जनता के स्वतः स्फूर्तता की पूजा करने वालों की तीखी आलोचना की है तथा क्रांतिकारियों को यह सिखाया है कि उनका दायित्व है वे समाजवादी चेतना को जनता के बीच ले जायें । लेनिन ने बताया है कि समाजवादी विचारधारा के अभाव में मजदूर आन्दोलन और मजदूर वर्ग की स्वतःस्फूर्तता बुर्जुआ दायरे में ही सिमट कर रह जाती है । मजदूर वर्ग क्रांति करने के लिये भौतिक शक्ति के बतौर तभी सामने आता है तब उसका एक अच्छा-खासा हिस्सा समाजवादी विचारधारा के संपर्क और प्रभाव में आ जाता है । ऐसे में, सर्वहारा वर्ग की पार्टी अपना महत्व ग्रहण कर लेती है । रूस में क्रांति ने स्थापित किया

है कि बिना बोल्शेविक पार्टी के सर्वहारा और उसका अधिनायकत्व संभव नहीं था । एक सर्वहारा वर्ग की पार्टी का जन समुदाय के साथ क्या रिश्ता बनता है ?

" ... सच्ची मार्क्सवादी - लेनिनवादी राजनीतिक पार्टियों और तमाम क्रांतिकारियों को जन-समुदाय की क्रांतिकारी कार्यवाहियों का जोश के साथ समर्थन करना चाहिये, दृढता के साथ जन-आन्दोलन के आगे-आगे चलना चाहिये और जन-समुदाय को आगे बढ़ने में नेतृत्व करना चाहिये ।" (पेज-72-73 'राजसत्ता और क्रांति' ('महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के कुछ दस्तावेज') अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन)

आलेख के इस हिस्से को समाप्त करने के पहले कुछ मूल प्रस्थापनाओं को दोहरा लेना आवश्यक होगा । इसके लिये हम लेनिन को पुनः उद्धृत करेंगे । 30 अक्टूबर 1910 को लेनिन ने 1905 की असफल क्रांति से कुछ सबक निकाले थे । ये सबक थे,

" ऐसे धावे के आगे कोई भी जारशाही सत्ता नहीं टिक सकती । परन्तु सभी यह समझते हैं कि ऐसा धावा ***कृत्रिम ढंग से, समाजवादियों या अग्रणी मजदूरों की इच्छानुसार नहीं*** *किया जा सकता । ऐसा धावा तभी संभव है, तब* ***पूरा देश संकट, जनरोष तथा क्रांति की लपेट में हो ।*** *ऐसा धावा तैयार कर सकने के लिये यह जरूरी है कि मजदूरों की* ***सबसे पिछड़ी श्रेणियों को संघर्ष में खींचा जाये, सालों-साल,सतत,व्यापक,अविचल प्रचारात्मक,आन्दोलनात्मक तथा संगठनात्मक काम किया जाये,*** *सर्वहारा संघों तथा संगठनों के सभी रूपों का* ***निर्माण*** *किया जाये और उन्हें* ***सुदृढ़*** *बनाया जाये ।" (लेनिन 'क्रांति के सबक', पेज:108, पैरा-2, खण्ड - 4, संकलित रचनाएं दस खण्डों में, प्र० प्र० मास्को, जोर हमारा)*

भारत के क्रांतिकारी आन्दोलन से कुछ मिसालें

अभी प्रस्तुत की गयी सैद्धान्तिक प्रस्थापनाओं की रोशनी में हम अब भारत के क्रांतिकारी आन्दोलन के कुछ ग्रुपों की अवस्थितियों का अवलोकन करेंगे । यहां गौर करने वाली बात यह है कि भारत की वस्तुगत परिस्थितियों का वर्णन करने में मार्क्सवादी-लेनिनवादी पद्धति का अनुसरण नहीं किया गया है । आप स्वयं ही निर्णय करें । हम कुछ प्रमुख ग्रुपों के कांग्रेस/कांफ्रेंस द्वारा पारित दस्तावेजों के अंशों को यहां प्रस्तुत कर रहे हैं।

सी०पी०आई०(एम०-एल०)-न्यू डेमोक्रेसी :

"2.1 **गहराता आर्थिक संकट व राजनीतिक अस्थिरता तथा जनता के बीच बढ़ता मोहभंग राष्ट्रीय परिस्थिति के लक्षण हैं** । वर्तमान परिस्थिति के लक्षण सत्ता में बने रहने अथवा सत्ता पाने की कोशिशों में शासक वर्ग के दलों की जोड़-तोड़ तथा तिकड़में और जनता के जारी संघर्ष हैं । **आर्थिक-राजनीतिक संकट इस हद तक बढ़ गया है कि हर अहम् मुद्दा चेतावनी बन जाता है ।** राजनीतिक अस्थिरता के तथ्य को सभी राजनीतिक दल मान गये हैं,

भले ही वे लम्बे चौड़े दावे करें ।" (12 अगस्त 1996, अखिल भारतीय पार्टी कांग्रेस सी.पी.आई.(एम.एल.), न्यू डेमोक्रेसी,राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थति, पेज -17, पैरा-1 जोर हमारा)

"2.2 **'नई' आर्थिक नीतियों के अमल के चार वर्षों ने व्यववस्था के अन्तर्निहित सभी बड़े अन्तर्विरोधों को और अधिक तेज कर दिया है तथा प्रधान अन्तर्विरोध जो कि साम्राज्यवाद, सामन्तवाद तथा दलाल नौकरशाह पूंजीवाद और व्यापक जनता के मध्य अन्तरर्विरोध है विशेषकर तेज हुआ है।**

...साम्राज्यवादी देशों द्वारा तीसरी दुनिया के देशों का शोषण बढ़ाने के लिये जबर्दस्ती थोपे गये विश्व व्यापार संगठन ने तीसरी दुनिया के देशों पर साम्राज्यवाद के आर्थिक आक्रमणों के लिये नये मानदण्ड तय किये हैं और इस प्रकार **नव औपनिवेशिक शोषण व लूट को अभूतपूर्व गहराई तक पहुंचाया है ।"** (पेज -17 पैरा-2, वही, जोर हमारा)

" 2.49 ... गहराता आर्थिक-राजनीतिक संकट क्रांतिकारी संघर्षों के विकास की सम्भावनाओं तथा साथ ही फासिस्ट ताकतों के लिए अवसर मुहैय्या करता है । अतः यह गम्भीर चुर्नातियों और शानदार अवसरों का दौर है।"(पेज -32, पैरा-3 वही, जोर हमारा)

सी.पी.आई.(एम.एल.)-जनशक्ति :

"**शासक वर्गों की अस्थिरता क्रांतिकारी परिस्थितियां मुहैय्या कराती है लेकिन इस स्थिति से निपटने के लिये आवश्यक मनोगत तत्वों का अभाव है,** क्रातिकारी **लम्बे समय** से यह मूल्यांकन करते रहे हैं लेकिन इस जरूरत को पूरा करने की तरफ जमीनीं स्तर पर कोई प्रगति नहीं हुई है। एक अकेला सही मूल्यांकन यह काम नहीं कर सकता है ।" [The All India conference of C P I (M L) - Janshakti, Feb- 2004,'On National situation', vol, 12, no-1, page -38, para-III, janshakti-K.Rama Chandran) अनुवाद व जोर हमारा]

"1. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष-विश्व बैंक व विश्व व्यापार संगठन के सांठ-गांठ के इशारे पर भारत का सत्ताधारी वर्ग तेजी से L.P.G (उदारीकरण, निजीकरण,वैश्वीकरण) की नीतियों को लागू कर रहा है । उससे देश की अर्ध-सामन्ती,अर्ध-उपनिवेशी व्यवस्था में जो **सर्वव्यापी संकट उपस्थित है** वह और भी **गहरा और बढ़ता जा रहा है ।** इस संकट ने देश की **राजनीतिक व्यवस्था के संकट को और गहरा दिया है ।** अब भारत के शासक वर्ग को **पुराने तरीके** से शासन करना **और कठिन हो रहा है** और **जनता द्वारा शासक वर्ग से शासित होने की अनिच्छा बढ़ रही है ।** फलस्वरूप मूलभूत और जनवादी अधिकारों के लिये हम **जन संघर्षों का उभार देखते हैं ।** जनता, क्रांतिकारी पार्टियों और जन संघर्षों को दबाने की दृष्टि से सत्ताधारी वर्ग ने दमनकारी नीतियों को बढ़ाकर और तेज कर दिया है ।

"2. आज की **वस्तुगत परिस्थितियां उत्कृष्ट हैं**, खास करके **क्रांतिकारी पद्धति** से अपनी **समस्याओं** को सुलझाने की **जनता की तैयारी** यह दर्शाती है कि सशस्त्र संघर्ष के परिप्रेक्ष्य व व्यवहार पर आधारित अखिल-भारतीय एकल क्रांतिकारी पार्टी की जरूरत समय की मांग है। C.P.I. (M.L.)-जन शक्ति, केन्द्रीय प्लेनम के निर्णय,C. C. सरकुलर, क्र० 2/ मई /2003 , बहुजन द्वारा नेतृत्व वाले गुट का दस्तावेज, जोर हमारा]

सी.पी.आई.(एम.एल)-पी.डब्ल्यू. :

"आज पूरी दुनिया में एक **शानदार क्रांतिकारी परिस्थिति मौजूद है** और **पूंजीवाद के आम संकट** के **और अधिक गहराने से** समकालीन विश्व में सभी **बुनियादी अन्तर्विरोध दिन-ब-दिन तीखे हो रहे हैं।** और **साम्राज्यवाद और अधिक कमजोर हुआ है ।** अपनी सारी शक्तियों को इकट्ठा कर लेने के बावजूद साम्राज्यवाद का दैत्य **पूरी दुनिया में जन संघर्षों के बढ़ते ज्वार को** रोक पाने में **असमर्थ साबित हो रहा है । .....यद्यपि विश्व क्रांतिकारी परिस्थिति शानदार है तथापि क्रांतिकारी शक्तियां वर्तमान समय में सांगठनिक तौर पर इतनी मजबूत नहीं हैं कि वे इस परिस्थिति का इस्तेमाल विश्व समाजवादी क्रांति को विजय की ओर बढ़ाने में कर सकें ।"**

[Utilise the Excellent World Wide Revolutionary Situation ! Devlop the Subjective Forces and Advance the World Socialist Revoulation to Victory !!'. Political resolution adopted by ninth (second) congress, 18 march 2001, C P I (M L) - PW, पेज.42-43, अनुवाद व जोर हमारा]

''साथियो !

आज लोगों - राष्ट्रीयताओं, उत्पीड़ित किसानों, दलितों, मजदूर वर्ग, महिलाओं, विद्यार्थियों इत्यादि- के **प्रत्येक और सभी**, यहां तक कि उनके तबकाई मांगों के संघर्ष भी **और अधिक जुझारू रूप ग्रहण करते जा रहे हैं** तथा उनमें भारतीय राज्य के खिलाफ **सशस्त्र संघर्षों में तवदील होने की क्षमता है । शासक वर्गों का संकट पहले कभी आज जितना तीखा नहीं था ।** या उनकी साख इतने अधिक उतार पर नहीं थी । ... और पिछले पांच दशकों में पहले कभी इतनी बड़ी संख्या में लोग प्रतिक्रियावादी बड़े पूंजीपतियों, बड़े भू-स्वामी शासकों के खिलाफ खुली शस्त्र लड़ाई तथा हथियार बन्द संघर्षों में नहीं उतरे थे । **हजारों-हजार की संख्या में** हथियार लोगों के हाथों में आये हैं जो कि एक ऐसा मुख्य अनुकूल कारक है जो भारतीय जनवादी क्रांति को आगे बढ़ायेगा ।(पेज -72, वही, अनुवाद व जोर हमारा)

"... आज **हमारे देश में और दुनिया के अनेक हिस्सों में एक शानदार क्रांतिकारी परिस्थिति विद्यमान है** और यह शनैः शनैः **विश्वव्यापी क्रांतिकारी संकट में विकसित हो रही है ।** जब **साम्राज्यवाद अपने गले तक सर्वव्यापी संकट में डूबा हुआ है** तब पूरी दुनिया में और भारत में भी **सभी बुनियादी अन्तर्विरोध** दिन-ब-दिन **तीखे होते जा रहे हैं ।** आइये ऊपर

लिखित रणनीति व रणकौशल को अपने देश की ठोस परिस्थितियों में सही ढंग से लागू करके इस शानदार घरेलू व अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति का लाभ उठाकर हम क्रांति को विजय की ओर अग्रसर करें । [`Strategy and Tactics', adopted by the Ninth (2nd) congress,March 2001, C P I (M L) -P W, page -81, para -II, अनुवाद व जोर हमारा]

देश के कई अन्य क्रांतिकारी ग्रुपों का साहित्य भी इसी तरह की बातों से भरा हुआ है । यहां कुछ बातें एकदम समान हैं । शब्दों के हेर-फेर के साथ ये सभी एक ही तरह से देश और विश्व की वस्तुगत व आत्मगत शक्तियों का वर्णन कर रहे होते हैं । जो बातें समान है वे ये हैं :

विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था का संकट गहराता जा रहा है और साम्राज्यवाद तथा तीसरी दुनिया के बीच का अन्तर्विरोध तीव्र होता जा रहा है । दुनिया के संदर्भ में कई संगठन यह बात भी कह रहे हैं कि सभी बुनियादी अन्तर्विरोध तीखे हो रहे हैं ।

राष्ट्रीय परिस्थिति की यह खासियत गिनायी जा रही है कि आर्थिक-राजनीतिक संकट गहराता जा रहा है । राजनीतिक अस्थिरता बढ़ रही है तथा जनता का शासक वर्गों से मोहभंग बढ़ रहा है । जनता के साम्राज्यवाद और देशी शासकों के खिलाफ संघर्ष मुखर और जुझारू होते जा रहे हैं ।

कुल मिलाकर, देश और दुनिया में शानदार क्रांतिकारी परिस्थिति है । क्रांतिकरियों के लिये परिस्थितियां अनुकूल हैं। शानदार क्रांतिकारी परिस्थितियों के अनुरूप आत्मगत शक्तियां नहीं हैं । सांगठनिक तौर पर क्रांतिकारी शक्तियां कमजोर हैं । कुल मिलाकर, अगर क्रांतिकारी एकजुट हो जायें तो इस शानदार परिस्थिति का लाभ उठाकर क्रांति को अंजाम दे सकते हैं ।

गलत निष्कर्षों के कुछ कारण

भारत के क्रांतिकारियों द्वारा भारत की क्रांति के बारे में निकाले गये निष्कर्षों के कुछ ठोस कारण हैं । ठोस कारणों की चर्चा करने से पहले यह उचित होगा कि वस्तुगत-आत्मगत शक्तियों के सिलसिले में हम अपनी अवस्थिति रख दें । व्यवस्था के प्रत्येक संकट को क्रांतिकारी परिस्थिति के रूप में हमेशा चित्रित किये जाने से मार्क्सवाद-लेनिनवाद का मखौल ही उड़ता है और विज्ञान के रूप में उसकी गरिमा कम होती है । भारत के क्रांतिकारी साहित्य में पिछले कई दशकों से यह चलन है कि क्रांति की परिस्थितियां तो एकदम अनुकूल हैं, कि आतमगत शक्तियां, कम्युनिस्ट पार्टी का बिखराव आदि है जिसने क्रांति को अवरूद्ध किया हुआ है । एक या दो व्यक्ति, एक या दो ग्रुप कभी गलतीवश या परिस्थितियों के आकलन में लापरवाही बरतने के कारण ऐसा कह रहे हों तो चल जाता है । इसको गम्भीरता से लेने की आवश्यकता नहीं थी परन्तु हमारे देश का जब अधिकांश क्रांतिकारी हिस्सा इस बात को कह रहा हो तो यह सवाल गम्भीरता के साथ-साथ गहरे चिंतन व शोध का विषय बन जाता है ।

कुछ चीजों को तो समय ने ही साबित कर दिया कि देश में पिछले दो-तीन दशकों में कभी भी क्रांतिकारी परिस्थिति नहीं रही है । देश के शासकों के सामने पिछले पांच दशकों में एक ही बार ऐसा समय आया जब उन्होंने आपातकाल सन् '75 में लगाया था । शासक वर्ग द्वारा लगाये गये आपातकाल के समय तथा '68-'69 के समय को ही

अधिक से अधिक ऐसा समय माना जा सकता है जब भारत का शासक वर्ग और व्यवस्था संकट के दौर में थी लेकिन उसे भी क्रांतिकारी संकट का समय नहीं कहा जा सकता है ।

और जहां तक '90 के दशक में दिखाई देने वाली एक किस्म की राजनीतिक अस्थिरता का सवाल है वह ऐसे भी नहीं रही हैं कि उसने किसी किस्म के भीषण राजनीतिक संकट को जन्म दिया हो । बल्कि भारत के पूंजीपति वर्ग ने इस तरह के संकटों को बड़ी आसानी से व्यवस्था के दायरे में आम प्रयासों से सुलझा लिया है । '90 के दशक में शासक वर्गीय राजनीति में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई दिया है, वह यह कि एक दलीय सरकार के स्थान पर बहुदलीय गठबंधन सरकारें अस्तित्व में आयी हैं । देश में क्षेत्रीय दल केन्द्र की सरकार के गठन में दबाव व प्रभाव रखने लगे हैं । राजनीतिक अस्थिरता के साथ यह भारतीय पूंजीपति वर्ग के विस्तार व प्रभाव का भी सूचक है । जो उठा-पटक व जोड़-तोड़ दिखायी देती है वह पूंजीपति वर्ग के विभिन्न हिस्सों में अपने हितों को लेकर चलने वाली रस्सा-कस्सी का ही द्योतक है । भारतीय पूंजीपति वर्ग में इजारेदार-गैर इजारेदार, निजी व नौकरशाह, शहरी व देहाती (धनी किसान) जैसे बंटवारे मौजूद हैं और इनके हितों को अभिव्यक्ति देने वाली कई पार्टियां, संगठन व समूह मौजूद हैं । इनके बीच के चलने वाले हितों के टकराव को भारतीय राज्य व्यवस्था बड़ी कुशलतापूर्वक अभी तक हल करती रही है । अतः इनसे यह नतीजा निकालना कि भारत का शासक वर्ग शासन करने में अक्षम साबित हो रहा है या जनता का उसके प्रति मोहभंग बढ़ता जा रहा है, गलत होगा । सच्चाई यही है कि भारत का शासक वर्ग अपने प्रतिक्रियावादी शासन को सामान्य धक्कों के बावजूद सुगमतापूर्वक चला ले जा रहा है और मेहनतकशों के बीच उसके शासन को समर्थन व वैधता मिली हुई है।

पिछले तीन-चार दशकों में भारतीय राज सत्ता को सबसे गम्भीर चुनौती उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं की ओर से मिली है । इन संघर्षों की विशेषता सशस्त्र होने के साथ-साथ इन राष्ट्रीयताओं की जनता का व्यापक व सक्रिय समर्थन भी रहा है । परन्तु भारत का शासक वर्ग कश्मीर को छोड़कर अन्य राष्ट्रीयताओं के संघर्ष को भारतीय सेना के घोर दमन तथा इनके बुर्जुआ-निम्न बुर्जुआ तबकों को अपनी व्यवस्था में आत्मसात करने की नीति द्वारा पददलित करने में सफल रहा है । मिजो, नागा आदि तमाम राष्ट्रीयताओं के संघर्ष अपनी मुखरता खो चुके हैं । इन राष्ट्रीयताओं के संघर्ष के चरित्र की जटिलता व सीमा में न जाते हुऐ, हम केवल एक ही बात की ओर इशारा करना चाहते हैं कि भारतीय शासक वर्ग अपनी क्रूरता और धूर्तता के जरिये तथा सम्बन्धित राष्ट्रीयताओं के संघर्ष की कमजोरी और सीमा के कारण, एक हद तक इनसे निपटने में सफल रहा है, अपनी व्यवस्था के दायरे में समेटता रहा है ।

राष्ट्रीयताओं के जुझारू संघर्षों के अलावा पिछले चार पांच-दशकों में चलने वाले वर्गीय संघर्ष न तो देशव्यापी थे और न ही क्रांतिकारी चरित्र से लैस थे । मजदूरों व किसानों के संघर्ष अर्थवाद, सुधारवाद, कानूनवाद के दायरे में ही अक्सर बंधे रहे हैं । कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के नेतृत्व में चलने वाले संघर्ष देश के कुछ इलाकों में सिमटे रहे हैं तथा जन-भागीदारी अक्सर न्यून ही रही है । कुल मिला कर अगर कहा जाय तो सन् '42 व '46-'48 वाला देशव्यापी जनरोष व जन-भागीदारी पिछले दशकों में नहीं दिखाई देती रही है । '68-'69, '74 -'75 में चले जन आन्दोलनों को ही खींच-तान कर कहा जा सकता है कि वे देशव्यापी जनरोष की अभिव्यक्ति थे ।

क्रांति के लिये आवश्यक दूसरी वस्तुगत परिस्थिति; कि उत्पीड़ित वर्गों की दुख और गरीबी सामान्य से अधिक तीक्ष्ण हो जाये और इसके फलस्वरूप जनसमुदाय की सरगर्मी में काफी वृद्धि हो जाये; भारत में हाल के दशकों में नहीं दिखाई देती है । आम मेहनतकश बेहद गरीबी और दुखों से भरा जीवन जी रहे हैं । लेकिन जिसे लेनिन कहते हैं कि सामान्य से अधिक तीक्ष्ण हो जाये, देशव्यापी स्तर पर नहीं दिखाई देती है ।

जहां तक मध्यवर्त्ती तत्वों के ढुलमुलपन का सवाल है वह भी ऐसी परिस्थिति में ही संभव होता है जब शासक वर्ग की शासन करने में अक्षमता दिनोंदिन बढ़ रही हो तथा शोषित- उत्पीड़ित वर्गों के संघर्ष तीव्रता ग्रहण कर रहे हों । ढुलमुलपन का अर्थ है जो मध्यवर्त्ती कल तक शासक वर्ग का, सरकार का समर्थन कर रहे थे वो कमजोर पड़ चुके हों । ऐसी परिस्थिति देश में पिछले दो-तीन दशकों में नहीं दिखाई दी है ।

कुल मिलाकर कहा जाय तो भारत में हाल के दशकों में क्रांतिकारी परिस्थिति नहीं रही है । अतः यह कहना कि क्रांति के लिये वस्तुगत परिस्थितियां बेहद अनुकूल हैं, ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण नहीं है । इस निष्ठुर सच्चाई को हमें स्वीकार करना होगा कि आज देश में क्रांतिकारी परिस्थिति नहीं है । क्रांतिकारी रोमानियत से क्रांतिकारी परिस्थिति तैयार नहीं होती है। जैसा कि लेनिन ने कहा है कि क्रांतियां वस्तुगत रूप से परिपक्व संकटों तथा इतिहास के उलट-फेरों से विकसित होती हैं । क्रांतियों को, जैसा कि लेनिन ने बार-बार स्थापित किया है कि कृत्रिम ढंग से, अग्रणी मजदूरों या पार्टियों की इच्छानुसार नहीं निर्मित किया जा सकता है ।

अब, क्रांति की आत्मगत शक्तियों के सवाल को लिया जाय । जहां तक आत्मगत शक्तियों के संदर्भ में वर्णन का सवाल है उससे कमोवेश सहमत हुआ जा सकता है । परन्तु आत्मगत शक्तियों को परिभाषित करने के ढंग तथा वस्तुगत परिस्थितियों से आत्मगत शक्तियों के अन्तर्सम्बन्ध में हमारे आन्दोलन में गम्भीर भटकाव मौजूद हैं । यह भी कहा जा सकता है हमारे आन्दोलन में इस सवाल पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के स्थान पर या तो यांत्रिक भौतिकवाद का या फिर भाववाद का अनुसरण किया जाता है ।

आत्मगत शक्तियां वस्तुगत शक्तियों से द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध में बंधी होती है । ऐसा नहीं हो सकता है कि वस्तुगत परिस्थितियां तो क्रांति के अनुरूप हों पर आत्मगत परिस्थितियां क्रांति के अनुरूप निर्मित या विकसित नहीं हो रही हों । ये तो हो सकता है कि वस्तुगत परिस्थितियों व आत्मगत परिस्थितियों का वह संयोग जो क्रांति को जन्म देता है और सफल करता है वह घट न रहा हो परन्तु एक दूसरे से द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों में बंधी दो शक्तियों की विकास की अवस्थाओं में ऐसा विशाल अन्तर सामान्यतया और लम्बे काल-खण्ड में सम्भव नहीं हो सकता है । यह तो हो सकता है कि जो निर्णायक भूमिका आत्मगत शक्तियों की वस्तुगत परिस्थितियों को बदलने में आवश्यक होती है, उस भूमिका को निभाने में असफल हो जाय । परन्तु यह नहीं हो सकता है कि जनता का दुख और गरीबी तो सामान्य से ज्यादा तीक्ष्ण हो जाय परन्तु जन-रोष न हो, संगठनबद्ध होने की इच्छा और क्षमता न हो । स्वतः स्फूर्त संघर्ष जन्म न ले रहे हों ।

इतिहास में आम तौर पर वस्तुगत शक्तियां निर्णयात्मक और प्राथमिक भूमिका निभाती हैं । यह भौतिकवादी प्रस्थापना है । जैसा लेनिन व माओ ने सिखाया है कि इतिहास में ऐसे मौके आते हैं जब आत्मगत शक्तियां निर्णायक और प्राथमिक भूमिका अख्तियार कर लेती हैं । द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी धारणा यह है कि आत्मगत शक्तियां वस्तुगत शक्तियों को

भी प्रभावित करती हैं तथा खास मौकों पर निर्णयात्मक भूमिका निभाती हैं । आत्मगत शक्तियां ऐसे मौकों पर पार्टी, जनसंगठन, जन आन्दोलन व जन-संघर्ष के रूप में भौतिक शक्ति का रूप ग्रहण कर लेती है । क्रांतिकारी वर्ग क्रांति करने की क्षमता से लैस हो जाते हैं । संघर्ष के नये-नये और उच्च रूप अस्तित्व में आ जाते हैं ।

मार्क्स के शब्दों में कहें तो क्रांति के लिये आवश्यक भौतिक तत्वों का सृजन हो जाता है । पहला उत्पादक शक्तियों के विकास का वह स्तर जो कि मौजूदा उत्पादन सम्बन्धों के दायरे को लांघ जाता है । दूसरा, क्रांतिकारी वर्ग पुराने पड़ चुके उत्पादन सम्बन्धों में निर्णायक हस्तक्षेप कर उन्हें भंग कर देता है और उत्पादन शक्तियों के अनुरूप नये उत्पादन सम्बन्धों का निर्माण कर देता है । क्रांति सम्पन्न हो चुकी होती है ।

अब हम उन कारणों की चर्चा करेंगे जो भारतीय क्रांतिकारी आन्दोलन के साथियों को गलत निष्कर्षों की ओर ले जाते हैं ।

सर्वप्रथम कारण बेहद बुनियादी है । इसकी चर्चा हम इस आलेख में एकाधिक बार कर चुके हैं । यह हमारे देश के क्रांतिकारी आन्दोलन के कतिपय संगठनों का मुख्य दोष है कि वह भारत व दुनिया की परिस्थितियों का आकलन करते समय द्वन्द्वात्मक व ऐतिहासिक पद्धति का अनुपालन नहीं करते हैं । मार्क्स , एंगेल्स, लेनिन तथा अन्य क्रांतिकारी शिक्षकों द्वारा बतायी गयी पद्धति का तकाजा है कि हम चीजों को गतिमान व परिवर्तनशील अवस्था में देखें । मौजूद अन्तर्विरोध को तलाशें । तलाशे गये अन्तर्विरोध में बुनियादी और फिर मुख्य अन्तर्विरोध की पहचान करें । मुख्य अन्तर्विरोध के भी प्रधान व गौण पहलू को देखें तथा उसकी प्रकृति का निर्धारण करें ।

इसी तरह तथ्यों पर द्वन्द्वात्मक-ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग कर निष्कर्ष निकालें न कि मनोगत ढंग से निष्कर्ष निकालें या निकाले गये निष्कर्षों में काट-छांट कर तथ्यों को फिट करें ।

हमारे आन्दोलन का जब एक संगठन यह कहता है कि दुनिया और भारत में सभी अन्तर्विरोध दिन-ब-दिन तीखे हो रहे हैं तो यह दुनिया की जटिल परिस्थितियों का न केवल बेहद सरलीकरण है बल्कि मार्क्सवाद की देश और दुनिया को देखने की पद्धति को त्यागना भी है । इतिहासजन्य सच्चाई यह है कि समय-समय पर बुनियादी अन्तर्विरोधों में से कोई एक प्रधान का स्थान ग्रहण करता रहा है और इतिहास को गति प्रदान करता रहा है । एक समय में प्रधान व बुनियादी अन्तर्विरोध-समाजवादी खेमे और साम्राज्यवादी खेमे के बीच का अन्तर्विरोध-आज अस्तित्वमान ही नहीं है । लेकिन हमारे देश के क्रांतिकारी आन्दोलन में कुछ संगठन ऐसे भी हैं जो इस अन्तर्विरोध को आज भी अस्तित्वमान मानते हैं और इसकी उल्टी-सीधी व्याख्या करते हैं। इसे निकृष्ट किस्म के जड़सूत्रवाद के अलावा और क्या कहा जा सकता है ।

मार्क्सवाद की वैज्ञानिक पद्धति को न अपनाने का यही नतीजा निकलता है कि कतिपय संगठन मार्क्सवादी शिक्षकों द्वारा अपने समय में देश-दुनिया के बारे में किये गये आकलनों को भी सिद्धान्त का दर्जा दे देते हैं । चीन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा 1963 में अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की आम दिशा के साथ भी ऐसा ही हो रहा है । हमारे देश के कतिपय संगठनों ने आम दिशा तथा 'महान बहस' में प्रस्तुत किये गये सिद्धान्तों व आकलनों को आपस में गड्ड-मड्ड कर

दिया है । आकलनों को भी सिद्धान्त या प्रमेय का दर्जा दे दिया है । इन दस्तावेजों में प्रस्तुत किये गये देश-दुनिया के विश्लेषण को चिरस्थायी समझ लिया है । यह गलत है । असल में यह आम दिशा में प्रस्तुत पद्धति का भी उल्लंघन है । यह हमारे देश में क्रांतिकारियों द्वारा गलत विश्लेषण का एक कारण है । आम दिशा कहती है,

" (4) अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की आम दिशा बनाते समय प्रारम्भ यहां से होना चाहिये कि **विश्व राजनीति का व विश्व अर्थनीति का समूचे रूप में तथा वास्तविक विश्व स्थिति का, यानी वर्तमान विश्व के बुनियादी अन्तर्विरोधों का ठोस वर्ग-विश्लेषण किया जाय ।** अगर कोई ठोस वर्ग विश्लेषण से बचेगा, कुछ सतही वस्तुओं को बिना सोचे-समझे पकड़ लेगा, तथा मनोगतवादी और निराधार निष्कर्षों पर पहुंचेगा, तो वह अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की आम दिशा के बारे में **सही निष्कर्ष कदापि नहीं निकाल सकेगा,** बल्कि अनिवार्य रूप से ऐसे रास्ते में फिसल जायेगा, जो **मार्क्सवादी-लेनिनवादी रास्ते से बिल्कुल भिन्न होगा" ।** ['अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की आम दिशा के बारे में एक सुझाव',महान-बहस,अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन, मुजफ्फरनगर (उ०प्र०), जोर हमारा]

हमारे देश के क्रांतिकारी आन्दोलन में ठीक यही काम नहीं किया जाता है । बुनियादी अन्तर्विरोधों के ठोस वर्ग विश्लेषण से निष्कर्ष निकालने के स्थान पर पहले से निकाले गये निष्कर्षों के आधार पर देश-दुनिया का वर्णन किया जाता है । जैसा कि भारत के विश्लेषण में किया गया है । भारतीय समाज को एक अर्द्ध-सामन्ती अर्द्ध-औपनिवेशिक समाज के रूप में चित्रित किया जाता है । यह एक जड़सूत्रवादी नजरिया है । जबकि भारतीय समाज क्रमशः व कमोवेश एक पूंजीवादी समाज में तब्दील हो गया है । वर्ग शक्तियों की स्थिति बदल चुकी है । किसान प्रधान से भारतीय समाज सर्वहारा प्रधान समाज में तब्दील हो गया है । इसके हम विस्तार में नहीं जायेंगे क्योंकि 'लाल सलाम' अपने विविध अंको में इस सवाल के विविध आयामों को उठाता रहा है और हमारा मानना है कि भारतीय समाज का विश्लेषण यह साबित कर रहा है कि भारतीय समाज को एक नव-जनवादी क्रांति के स्थान पर समाजवादी क्रांति की आवश्यकता है ।

भारतीय समाज को अर्द्ध-सामन्ती अर्द्ध-औपनिवेशिक चित्रित करने के साथ नव- जनवदी क्रांति के लिए दीर्घकालिक लोक युद्ध का रास्ता घोषित किया जाता है । माओ ने चीन की ठोस परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए बताया था कि क्यों चीन में दीर्घकालिक लोकयुद्ध कर रास्ता संभव है । माओ ने चीन की ये विशेषताऐ गिनायी; चीनी समाज का अर्द्ध-औपनिवेशिक अर्द्ध-सामंती होना तथा इस कारण चीन का असमान आर्थिक व राजनीतिक विकास, श्वेत सत्ता के पूर्ण घेरे के बीच छोटे-छोटे इलाकों में लाल राजनीतिक सत्ता का होना तथा श्वेत सत्ता के भीतर चलने वाला सशस्त्र संघर्ष, राष्ट्रव्यापी क्रांतिकारी स्थिति के विकास की निरन्तर संभावना, पर्याप्त शक्तिशली लाल सेना का होना, जनवादी क्रांति का प्रभाव तथा पर्याप्त जनाधार वाली एक सशक्त कम्युनिस्ट पार्टी, इत्यादि ।

हमारे देश में इस प्रस्थापना से शुरूआत होती है कि भारत एक अर्द्ध-सामन्ती अर्द्ध-औपनिवेशिक समाज है; इसलिए यहां नव-जनवादी क्रांति होगी; नव-जनवादी क्रांति दीर्घ- कालिक लोकयुद्ध के रास्ते सम्पन्न होगी । अब दीर्घकालिक लोकयुद्ध के लिये उन ''ठोस'' विशेषताओं की चर्चा की जाती हैं जो चीन की रही हैं । एक समय में स्टालिन ने चीनी क्रांति के संदर्भ में कहा था कि चीन में सशस्त्र क्रांति सशस्त्र प्रतिक्रांति का सामना कर रही है । जो बात स्तालिन ने चीन

के लिये कही थी उसे ही भारत पर ज्यों का त्यों लागू कर दिया जाता है । क्योंकि भारत की स्थिति चीन से नितान्त भिन्न है इसलिये देश के क्रांतिकारीयों को काफी मशक्कत और उलट-बासियां करनी पड़ती हैं कि क्यों भारत में दीर्घकालिक लोक युद्ध होगा । C.P.I. (M.L) P.W की नवीं (दूसरी) कांग्रेस के द्वारा पारित `Strategy and Tactics' नामक दस्तावेज यही कार्यवाही करता दीखता है । उन तमाम विशेषताओं को यह दस्तावेज कल्पित कर लेता है जो भारतीय समाज की नहीं हैं । यह दस्तावेज ठीक माओ द्वारा चीन की गिनायी गयी विशेषताओं के अन्दाज में भारत की विशेषताएं बताता है । यही दस्तावेज भारत और दुनिया में शानदार क्रांतिकारी परिस्थिति का उल्लेख करता है । और यह दावा करता है कि उसके द्वारा बतायी गयी रणनीति और रणकौशल को इस शानदार क्रांतिकारी परिस्थिति में सही ढंग से लागू करने पर क्रांति को विजय की ओर अग्रसर किया जा सकता है । यह पद्धति मार्क्सवाद की पद्धति के विपरीत एक मनोगतवादी पद्धति है जो अपनी पूर्व निर्धारित प्रस्थापनाओं के अनुरूप वस्तुगत परिस्थितियों का वर्णन व विश्लेषण करती है । देश व दुनिया में शानदार क्रांतिकारी परिस्थितियों की कल्पना कर ली जाती है ।

क्रांतिकारी परिस्थिति व सामान्य परिस्थिति का भेद मिटा दिये जाने से कई भ्रम खड़े होते हैं। गलत कार्यनीति व संघर्ष के रूप सृजित किये जाते हैं । जनसाधारण के साथ कम्युनिस्टों के सम्बन्धों में हिरावलवादी से लेकर अवसरवादी गलतियों का सिलसिला शुरू होता है । क्रांतिकारी राजनीति और सिद्धान्तों के स्थान पर कुछ व्यावहारिक कार्यों का बोलबाला होता है । क्रांतिकारिता के आवरण में सुधारवाद परोसा जाता है । हिरावलवाद और सुधारवाद बाज दफे साथ-साथ घटते हैं।

क्रांतिकारी अवधि और सामान्य विकास की अवधि के फर्क को समझने के लिये हम पुनः लेनिन को उद्धृत करेंगे । अप्रैल 1908 में, 1905 की असफल क्रांति का मूल्यांकन करते हुए लेनिन ने क्रांतिकारी अवधि तथा क्रांति की मूल्यांकन पद्धति के बारे में लिखा था,

''क्रांतिकारी अवधियां उन अवधियों से, जिन्हें शांतिपूर्ण विकास की अवधियों का नाम दिया जाता है, उन अवधियों से, जब आर्थिक अवस्थाएं गहन संकटों को, सशक्त जन-आन्दोलनों को पैदा नहीं करती, इस बात से भिन्न होती है कि पहली किस्म की अवधियों में संघर्ष के **रूप** अनिवार्यतः **कहीं अधिक विविधतापूर्ण** होते हैं तथा संसद, अखबारों आदि में नेताओं की प्रचारात्मक आन्दोलनात्मक गतिविधियों पर जन साधारण के प्रत्यक्ष क्रांतिकारी संघर्ष की प्रधानता होती है । इसलिये क्रांतिकारी अवधियों का मूल्यांकन करने में अगर हम विभिन्न वर्गों के संघर्ष के **रूपों** का विश्लेषण न करते हुए अपने को इन वर्गों की गतिविधियों की **लाइन** की व्याख्या करने तक सीमित रखें, तो हमारी बहस वैज्ञानिक पहलू से अपूर्ण और अद्वन्द्वात्मक होगी, और व्यवहारिक राजनीति के पहलू से वह **निष्प्राण तार्किकता** बन जायेगी । ... ''क्रांति का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दृष्टिकोण से सच्चा मार्क्सवादी मूल्यांकन कर सकने के लिये यह जरूरी है कि उसका ऐसी प्राणवान सामाजिक शक्तियों के संघर्ष के रूप में मूल्यांकन किया जाये, जो वस्तुपरक अवस्थाओं में होती है, विशेष ढंग से काम करती है तथा संघर्ष के विशेष रूपों को कम या ज्यादा सफलता के साथ अमल में लाती है ''। (लेनिन,'रूसी क्रांति का मूल्यांकन',पेज-20,पैरा-1 व 2,खण्ड-4,संकलित रचनाएं दस खण्डों में'(हिन्दीमें), प्र०प्र०मास्को)

यहां अब हम संक्षेप में कुछ अन्य कारणों की चर्चा करेंगे ।

भारत के क्रांतिकारी आन्दोलन की एक प्रमुख समस्या यह है कि वह भीषण ढंग से जड़सूत्रवाद का शिकार है । जैसा कि हम पहले ही कह आये हैं कि भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन 1963 की आम दिशा के आकलन और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा की गयी कुछ टिप्पणियों से बुरी तरह चिपका हुआ है । जड़सूत्रवाद की यह विशेषता होती है कि वह पुरानी पड़ चुकी प्रस्थापनाओं व मान्यताओं से चिपका रहता है । इस से निपटे बिना आज भारत के क्रांतिकारी आन्दोलन का विकास नहीं हो सकता है यहां बोल्शेविक पार्टी के इतिहास से निकाले गये सबक को भुला दिया जाता है । बोल्शेविक पार्टी का इतिहास खुले शब्दों में कहता है,

''मार्क्सवादी - लेनिनवादी सिद्धान्त में माहिर होने का मतलब है कि उसकी पुरानी पड़ चुकी स्थापनाओं और परिणामों को सिद्धान्त के तत्वके अनुसार बदलने में हिचकिचाये बिना, उनकी जगह नयी ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुरूप स्थापनाओं और परिणामों को रखकर, उसे **विकसित और बढ़ाने** की योग्यता रखना ।

''मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त कठमुल्लापन नहीं है, बल्कि काम करने के लिये एक मार्ग दर्शक है ।''(सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक)का इतिहास, पेज-350, पैरा-4,राहुल फाउन्डेशन लखनऊ)

भारत के क्रांतिकारी आन्दोलन की एक अन्य समस्या यह है कि इसका सर्वहारा वर्ग से अलगाव है । भारत के तमाम कम्युनिस्ट ग्रुपों का आधार व कार्य सर्वहारा वर्ग के बीच न हो कर निम्न बुर्जुआ तत्वों तथा अन्य वर्गों के बीच ही अधिक है । यह वह आधार है जिसके कारण कम्युनिस्ट ग्रुपों में निम्न बुर्जुआ तत्वों व प्रवृत्तियों की प्रधानता है । इसी चीज की अभिव्यक्ति क्रांति के शीघ्र सफलता के लिये छायी अधीरता में देखी जा सकती है । क्रांति के लिए धैर्यपूर्वक निरंतर कार्य करने के स्थान पर कुछ सतही निष्कर्षों के आधार पर तुरत-फुरत कुछ कर गुजरने की चाहत छायी रहती है और जब ऐसा नहीं होता है तब पराजयवादी मानसिकता और दक्षिणपंथी अवसरवाद छा जाता है । अक्सर अतिवामपंथ और अवसरवाद साथ-साथ प्रकट होते हैं और एक दूसरे के कारक बनते हैं । हम एक ऐसे समय में रह रहे हैं जिसमें आज क्रांतियां नहीं घट रही है । हमारे आन्दोलन में छाये मनोगतवाद का यह वस्तुगत कारण है । क्रांतिकारी आन्दोलन तथा घटनाओं के अभाव में छोटी-छोटी चीजें प्रधान हो गयी हैं । क्रांति की अन्तर्वस्तु को पकड़कर जो व्यापक परिप्रेक्ष्य होना चाहिये उसका अभाव है । दक्षिणपंथी अवसरवाद क्रांति ति की चुनौतियों को सही ढंग से स्वीकार न करने के कारण ऊबे हुये लोगों का ठिकाना बन जाता है ।

साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रांति का युग

मार्क्सवादी शिक्षकों ने हमारे समय को परिभाषित करते हुए कहा था कि यह साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रांति का युग है । हमारे समय के चरित्र की सार रूप में सबसे शानदार अभिव्यक्ति है । हमारे समय की चारित्रिक विशेषताओं को सार रूप में सामने ला देती है । अन्य बातों के अलावा जो महत्वपूर्ण है वह है युग की अवधारणा ।

लेनिन ने साम्राज्यवाद की चारित्रिक विशेषताओं में एक विशेषता यह गिनायी थी कि साम्राज्यवाद मरणासन्न पूंजीवाद है । इसे स्पष्ट करते हुए लेनिन ने लिखा था,

''यह समझ में आता है कि साम्राज्यवाद क्यों **मरणासन्न** पूंजीवाद, **समाजवाद में संक्रमण** कर रहा पूंजीवाद हैः इजारेदारी, जो पूंजीवाद **से** जन्म लेती है, **अभी ही** मरणासन्न पूंजीवाद है, समाजवाद में उसके संक्रमण की शुरूआत है । साम्राज्यवाद द्वारा श्रम का जबर्दस्त **समाजीकरण** (वह, जिसे उसके पैरवीकार-बुर्जुआ अर्थशास्त्री ''अंतर्गुंथन'' कहते हैं) भी स्वयं उसी का द्योतक है ।'' (लेनिन, 'साम्राज्यवाद तथा समाजवादी आन्दोलन में फूट,' पेज-212, पैरा-2, खण्ड-6, वही, जोर मूल में)

इसी बात के स्पष्ट करते हुए स्तालिन ने कहा,

''लेनिन ने साम्राज्यवाद को ''मरणासन्न पूंजीवाद'' कहा है । क्यों ? क्योंकि साम्राज्यवाद पूंजीवाद के आन्तरिक अन्तर्विरोधों को उनकी अन्तिम व्यवस्था तक, चरम सीमा तक पहुंचा देता है, जिसके आगे क्रांति का आरम्भ है ।''(स्तालिन, 'लेनिनवाद के मूल सिद्धान्त,' पेज-8, पैरा -2, समाजवादी साहित्य सदन, कानपुर)

मरणासन्न पूंजीवाद का यह अर्थ नहीं है कि वह तत्काल या अल्पकाल में समाप्त हो जायेगा और समाजवाद आ जायेगा । मरणासन्नता और उसके समाजवाद में संक्रमणता उसकी ऐतिहासिक नियति और प्रवृति को दर्शाता है । साम्राज्यवाद पूंजीवाद की चरम अवस्था है । जैसा कि स्तालिन ने कहा मरणासन्नता उसकी इन अर्थों में है कि वह पूंजीवाद के आन्तरिक विरोधों को चरम सीमा तक पहुंचा देता है । यह सीमा वह है जहां से क्रांति आरम्भ होती है । या दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि क्रांति ही इन अन्तर्विरोधों को हल करती है, और कर सकती है ।

इन सारी बातों को कहने का हमारा आशय यह है कि इस सैद्धान्तिक प्रस्थापना को इस तरह से सरलीकृत नहीं किया जा सकता कि लेनिन व स्तालिन की बातों का अर्थ यह है कि इस युग में सदैव क्रांतिकारी परिस्थितियां रहेंगी । लेनिन, स्तालिन की बातों से यह अर्थ निकालना नितान्त गलत होगा कि इस युग में क्रांति करने के लिये आवश्यक वस्तुगत परिस्थिति सदैव तैयार रहेगी । कि इस युग में क्रांति के लिये सारी बात इस बात पर निर्भर है कि आत्मगत शक्तियां क्रांति के लिये तत्पर और तैयार हैं कि नहीं । एक सचेत कार्यवाही के द्वारा क्रांतिकारी कभी भी इस युग में क्रांति कर सकते हैं।

मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन व अन्य शिक्षकों के सिद्धान्तों का यह सरलीकरण उनकी शिक्षाओं का भ्रष्टीकरण होगा । यह सिद्धान्तों को साधारण जुमलों में बदल देना होगा । द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को आर्थिक नियतिवाद में बदलना होगा तथा सिद्धान्त को विश्लेषण से उलझाना होगा ।

सर्वहारा क्रांति का युग होने के बावजूद क्रांति तो उन्हीं वस्तुगत-आत्मगत कारणों से होगी जिनकी चर्चा हम इस आलेख के पहले हिस्सों में कर चुके हैं । अतः उन्हें हम यहां पर दुहरायेंगे नहीं ।

यहां अब हम संक्षेप में दो प्रश्नों को छुएंगे । ये दोनों प्रश्न एक दूसरे से अन्तर- सम्बन्धित हैं । पहला, युग और संक्रमण काल से लेनिन-माओ का क्या आशय रहा है तथा दूसरा, हमारे युग में पूंजीवादी पुनर्स्थापना या प्रतिक्रांति क्यों होती है ।

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी नवीं राष्ट्रीय कांग्रेस (अप्रैल-1969) में प्रस्तुत रिपोर्ट लेनिन को उद्धृत करती है,

'' पूंजीवाद से कम्युनिज्म तक संक्रमण का एक पूरा ऐतिहासिक काल विद्यमान रहता है । जब तक यह काल समाप्त नहीं हो जाता, तब तक शोषक अनिवार्य रूप से पुनर्स्थापना की आशा लगाये बैठे रहते हैं और इस आशा को साकार करने के लिए पुनर्स्थापना की कोशिश भी करते हैं । ...

''पूंजीपति वर्ग का प्रतिरोध उसका तख्ता उलट दिये जाने के परिणामस्वरूप (चाहे केवल एक ही देश मे क्यों न हो) , दस गुना बढ़ जाता है । और उसकी मजबूती न केवल अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी की शक्ति में और उसके सम्पर्कों की शक्ति व अन्य स्थायित्व में निहित होती है, बल्कि आदतों की शक्ति और छोटे पैमाने के उत्पादन में निहित होती है । दुर्भाग्यवश, छोटे पैमाने का उत्पादन दुनिया में अब भी काफी फैला हुआ है और छोटे पैमाने का उत्पादन लगातार, प्रतिदिन, प्रतिपल, प्रतिधण्टा, स्वतःस्फूर्त रूप से और व्यापक पैमाने पर पूंजीवाद को तथा पूंजीपति वर्ग को जन्म देता रहता है । ...

''इन सब कारणों से सर्वहारा अधिनायकत्व को लागू करना जरूरी हो जाता है ।'' [पेज 5-6, 'राजसत्ता और क्रांति' (महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के कुछ दस्तावेज), अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन, मुजफ्फरनगर, (उ०प्र०)]

यही रिपोर्ट, अगस्त 1962 में माओ द्वारा कही गयी बात को इस सवाल पर उद्धृत करती है,

'' समाजवादी समाज एक काफी लम्बा ऐतिहासिक दौर है । समाजवाद के इस ऐतिहासिक दौर में वर्ग, वर्ग-अन्तर्विरोध और वर्ग-संघर्ष मौजूद रहते हैं, समाजवादी और पूंजीवादी दो रास्तों के बीच का संघर्ष मौजूद रहता है । पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का खतरा बरकरार है हमें इस संघर्ष की दीर्घकालीनता और पेचीदगी को समझना चाहिये'' (वही पेज-12-13)

पहले सोवियत संघ तथा बाद में, चीन में भी, पूंजीवादी पुनर्स्थापना हो गयी । और सभी तेरह देशों में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना होने से एक समय का शक्तिशाली समाजवादी खेमा समाप्त हो गया ।

यह हमारे युग की निष्ठुर सच्चाई है कि क्रांतियों के साथ प्रतिक्रांतियां भी घटी हैं । इसलिये हमें एकतरफा सुर में क्रांतियों का, क्रांतिकारी परिस्थितियों का राग अलापने के बजाय प्रतिक्रांतियों, गैर क्रांतिकारी परिस्थिति को भी ध्यान में रखना चाहिये । यदि हम ऐसा वस्तुनिष्ठ नजरिया रखेंगे तभी हम सच्चे मार्क्सवादी का परिचय दे सकेंगे, तभी हम एक सच्चे भौतिकवादी की तरह निराश अथवा अति उत्साही हुए बिना अपने कार्यों को विभिन्न परिस्थितियों- अनुकूल व प्रतिकूल- में निर्धारित कर अंजाम दे सकेंगे ।